भाषा-विश्लेषण

डॉ॰ मोतीलाल गुप्त



चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१७



॥ श्रीः ॥

भाषा-विश्लेषण

डॉ० मोतीलाल गुप्त, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.,

जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

(प्रथम भाग)



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1

१९७४

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०३०

गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

THE
CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES
17
******

BHĀṢĀ-VIŚLEṢAṆ

(LINGUISTIC ANALYSIS)

By
Dr. MOTĪLĀL GUPTA
M. A., Ph. D., D. Litt.,
Jodhpur University, Jodhpur.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1 (India)
1974

Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)
1974
Phone : 63145

First Edition
1974
Price Rs. 15-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

दो शब्द

भाषा-विज्ञान, अपने आधुनिक रूप में, अपेक्षाकृत एक नवीन विषय है। भारतवर्ष के प्राचीन भाषा-शास्त्रियों ने इस संबंध में जो कार्य किया उसकी प्रशंसा तो मुक्त कंठ से होती है, परन्तु आज का भारतीय भाषा-विद् पश्चिमीय प्रणाली और गवेषणा से प्रभावित है। ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धति को लेकर विद्वानों द्वारा कार्य किया गया है परन्तु पश्चिम के विद्वान ही हमारे आदर्श रहे हैं। इधर कुछ दिनों से, विशेष कर अमरीकी विद्वानों के प्रभाव से, विवरणात्मक प्रणाली का प्रचलन बढ़ चला है और हमारे विश्वविद्यालयों में भी इस ओर विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की रुचि बढ़ रही है। इस पद्धति को लेकर कुछ अन्वेषण-कार्य भी हो रहा है। इस प्रणाली के अनेक अंग हैं और उन्हीं में से कुछ विषयों पर यहाँ, इस लघु पुस्तिका में, सामग्री प्रस्तुत की जा रही है।

इस संबंध में प्रथम हिंदी-पुस्तक, जो मेरे देखने में आई है, वह है डॉ० उदयनारायण तिवारी की "भाषा-शास्त्र की रूपरेखा"। इस पुस्तक में डॉ० तिवारी तथा उनके कतिपय सहयोगियों ने व्यक्तिगत अध्ययन तथा शोध के आधार पर भाषा-विश्लेषण से संबंधित सामग्री प्रस्तुत की है—विदेशी विद्वानों, विशेषतः अमरीकी भाषाविदों, की पुस्तकों से यथा-स्थान सहायता ली गई है। डॉ० द्विवेदी की "भाषा और भाषिकी" में भी इस प्रकार की कुछ सामग्री है—विदेशी विद्वान वहाँ भी प्रमुख रहे हैं। एक प्रकार से इस विषय पर लिखते समय इन विद्वानों का आश्रय लेना आवश्यक ही है और वर्तमान लेखक भी उन सभी विदेशी विद्वानों का ऋणी है जिनकी महत्त्वपूर्ण तथा अति प्रचलित कृतियों से उसे सहायता प्राप्त हुई है। अपने लंदन-प्रवास में लगभग एक सत्र तक मैं लंदन-स्कूल के भाषा-वैज्ञानिकों के निकटतम सम्पर्क में रहा और वहाँ के अनेक पाठ्य क्रमों में एक विद्यार्थी की भाँति सम्मिलित भी हुआ। इसके अतिरिक्त अमरीकी विद्वानों के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इस अध्ययन की प्रेरणा मुझे

'ग्रीष्मकालीन सत्रों' से मिली जिनमें अपने विश्वविद्यालयों (राजस्थान तथा जोधपुर) के अनुग्रह से मैं धारवाड़, हैदराबाद तथा त्रिवेन्द्रम में सम्मिलित हुआ, और वहाँ लगभग पूरे समय सम्बन्धित विद्वानों के सम्पर्क में रहा ।

मेरे इन निबन्धों में से कई एक प्रकाशित भी हो चुके हैं पर मैंने उनके वर्तमान रूप में आवश्यक परिवर्तन कर दिया है जिससे विषय का प्रतिपादन उपयुक्त रूप में हो सके और भाषा-विश्लेषण में यथोचित सहायता मिल सके। विषय का सामान्य ज्ञान कराना भी इन निबन्धों का उद्देश्य है। मैंने अपने इन निबन्धों में व्यक्तिगत विचारों को प्रकाशित करने में अधिक स्वतन्त्रता ली है और हो सकता है इस दृष्टिकोण के कारण मेरे विचार इस क्षेत्र में प्रचलित विचारों से किंचित भिन्नता रखते प्रतीत हों—परन्तु यह एक ऐसा विषय है जिसमें प्रचलित रूढ़ियों से काफ़ी इधर-उधर होना पड़ता है ।

इन निबन्धों के प्रारूप मैंने कई भाषा-विदों को दिखाए और उनके सुझावों का आदर के साथ उपयोग किया गया है। साथ ही उन सभी विद्वानों से जो इस विषय में रुचि रखते हैं नम्र निवेदन है कि अपने सुझावों से अनुगृहीत करें जिससे लेखक लाभान्वित हो और उपयुक्त समय आने पर पाठक भी ।

एक प्रकार से इन निबन्धों का आरम्भ कई वर्षों पूर्व लंदन में ही हो चुका था जहाँ 'भाषा-विश्लेषण' तथा 'प्रयोगशालीय पद्धति' पर लिखे गए निबन्ध अपना प्रारम्भिक रूप प्राप्त कर चुके थे। भारत लौटने पर दोनों निबन्ध व्यवस्थित रूप में लिखे गए और राजस्थान-विश्वविद्यालय ने इन्हें प्रकाशित कराया। एक निबन्ध प्राच्यविद्या विश्व-सम्मेलन, नई दिल्ली में पढ़ा गया तथा एक अन्य अखिल विश्व ध्वनि-विज्ञान सम्मेलन के म्यूंस्टर अधिवेशन में पढ़ा गया। तोकियो, एन आरबोर, बुखारेस्ट और प्राह के विश्व सम्मेलनों के लिए भी निबन्ध प्रस्तुत किए गए। ये सभी निबंध अँग्रेजी भाषा में तैयार किए गए थे; यहाँ उनका हिंदी-रूपान्तर आवश्यक परिवर्तनों के साथ दिया जा रहा है ।

मेरे इन निबन्धों में इङ्गलैंड तथा अमेरिका दोनों स्थानों के भाषा-विज्ञान सम्बन्धी दृष्टिकोणों का सम्मिलित रूप मिलेगा—इनमें जहाँ इंगलैंड के फ़र्थ, बजैल, स्कॉट, रोबिन्स, जोन्स आदि की विचारधारा मिलेगी वहाँ

अमेरिका के ब्लूमफील्ड, हाकिट, ग्लीसन, हाटमा, पाइक आदि के विचार भी मिलेंगे। यह प्रयास अवश्य किया गया है कि इन विचारों को मैं अपने ढंग से प्रस्तुत करूँ। चेष्टा इस बात की भी की गई है कि स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणों के रूप में हिन्दीभाषा का उपयोग किया जाय और पुस्तक को, विशेष रूप से, हिन्दीविद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी बनाया जाय।

विदेशी तथा देशी विद्वानों के जिन ग्रन्थों, भाषणों तथा व्यक्तिगत सम्पर्क से जो सहायता मिली है उसके प्रति तो श्रद्धायुक्त कृतज्ञता के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं देख पाता, पर उन मित्र-विद्वानों के प्रति सस्नेह कृतज्ञता-ज्ञापन में बड़ी प्रसन्नता हो रही है जिनसे पारस्परिक विचार-विनिमय बहुत ही लाभ-प्रद सिद्ध हुए। इनमें स्कॉटलैंड के अबरक्रॉम्बी, जोन्स (डब्ल्यू० ई०), इंगलैंड के पामर, रोबिंस, पोलैंड की मिस दुमांस्का, फ्रांस के मेल तथा बोदविल, जर्मनी की मिस महल, अमेरिका के फेयर बैंक, पाकिस्तान के इस्लाम, स्याम की कुमारी विचिन, जापान के ओनिशी और दोई तथा भारत के जगदेवसिंह तथा खूबचंदानी आदि हैं।

आशा है यह लघु प्रयास हिन्दी-पाठकों के लिए इस नवीन विषय को स्पष्ट करने में कुछ सहायता प्रदान कर सकेगा।

—लेखक

भाषा-विश्लेषण

१

भाषा-समीक्षा

हमारे विश्वविद्यालयों में प्रायः तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का अध्ययन कराया जाता रहा है, भाषा-विश्लेषण की ओर इतना अधिक ध्यान नहीं रहा। विदेशों में भाषा के विश्लेषणात्मक अंग पर काफी काम हो रहा है। वहाँ विश्वविद्यालयों में इस कार्य के लिए भाषा-विज्ञान के अलग विभाग हैं। अपने यहां इस ओर डेकन कालेज पूना, आगरा विश्वविद्यालय का के० एम० मुंशी हिंदी विद्यापीठ, अन्नामलाई विश्वविद्यालय आदि कार्य कर रहे हैं। इधर सागर, हैदराबाद, त्रिवेन्द्रम, कुरुक्षेत्र आदि विश्वविद्यालयों में भी विभाग खुले हैं। कलकत्ता में भाषा-विज्ञान का विभाग अपने ढंग से बहुत समय से उत्तम कार्य कर रहा है और इसके अध्यक्ष सुनीतिकुमार तथा सुकुमार सेन जैसे विशिष्ट भाषा-शास्त्री रहे हैं। आंशिक रूप में गुजरात, इलाहाबाद, लखनऊ आदि विश्वविद्यालय भी काम कर रहे हैं। इन शिक्षण-संस्थानों में विधिवत् पठन-पाठन तो होता ही है साथ ही अनुसंधान कार्य भी।

भाषा-अध्ययन का यह अंग बहुत महत्त्वपूर्ण है और विदेशी भाषाओं को सीखने, विदेशियों को अपनी भाषा सिखाने आदि में इस प्रकार के अध्ययन से बहुत सहायता मिलती है। भाषा के वास्तविक रूप को जानना और उसका यथातथ्य वर्णन करना इसका प्रमुख कार्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने में प्रायः उन लोगों को सूचना-माध्यम बताया जाता है जो उस भाषा को मातृभाषा के रूप में बोलते हैं। डॉ० विश्वनाथप्रसाद ने भोजपुरी के ध्वनि-विश्लेषण में स्वयं अपने को ही माध्यम बनाया, और भी अनेक व्यक्ति अपने द्वारा ही सूचक का कार्य करते हैं। पद्धति यह भी ठीक है किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि जिस भाषा, उपभाषा, बोली, व्यक्तिगत भाषा का विश्लेषण होने जा रहा है उसके माध्यम में कृत्रिमता न आने पाए अन्यथा विवरण भ्रामक हो सकता है। अमेरिका के पाइक ने यह उचित समझा कि वह जिन लोगों की भाषा का वर्णन करना चाहता

था उनके बीच वर्षों रहे। केम्ब्रिज के एलन, लन्दन के जोन्स, ह्विटली, कानीकन तथा प्रिग महोदय ने उस भाषा को बोलने वालों को अपना माध्यम बनाया और उनका चुनाव बहुत सावधानी से किया। भारत के भोलाशंकर व्यास, गणेशदत्त गौड़ इन रूपों में कार्य कर चुके हैं। इसके साथ ही ये अन्वेषक महोदय उन प्रदेशों में स्वयं भी कुछ समय के लिए रहे जहां वह भाषा-विशेष मातृभाषा के रूप में बोली जाती है। माध्यम कई प्रकार का हो सकता है पर उपयुक्त होना चाहिए। भाषा-विश्लेषण में लिखित पुस्तक को भी आधार बनाया जा सकता है। एडिनबरा के हैलीडे, गुजरात के दवे इसी प्रकार के अध्ययन प्रस्तुत कर चुके हैं। इधर जायसी, तुलसी तथा सूर पर भी इस प्रकार का कार्य किए जाने की चेष्टाएँ की गई हैं। मैं भी 'प्रतापरासो' का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत कर चुका हूँ। और भी कार्य हो रहे हैं परन्तु कुछ ऐसा लगता है जैसे सभी अध्ययन एक ही साँचे में ढल रहे हों।

मूलभाषा-भाषियों के संपर्क में आने से भाषा की ध्वनियों, ध्वनिग्रामों, व्याकरण के रूप और वाक्यों की रचना आदि का विश्लेषण संभव हो सकता है। कार्य को सम्यक् रूप से प्रतिपादित करने के लिए एक सुशिक्षित और चतुर भाषा-वैज्ञानिक की आवश्यकता है क्योंकि उसका एक निश्चित कार्यक्रम होता है, प्रयोग की क्रियाएँ होती हैं, निर्धारित सीमाएँ भी होती हैं और एक सम्यक् क्षेत्र-ज्ञान भी रहता है।

भाषा स्वेच्छ ध्वनि-संकेतों की एक पद्धति है जिसके द्वारा कोई भी समुदाय पारस्परिक सहयोग प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति समाज विशेष का सदस्य होता है और अपने सभी क्रिया-कलाप में भाषा का प्रयोग करता है। भाषा-विहीन मानव-समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। विचाराभिव्यक्ति के अन्य साधन जैसे आंगिक संकेत, चित्र-पताका-संकेत और यहां तक कि लेखन–क्रिया भी सामाजिक आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त है, या यों कहिए कि वे सभी उच्चरित भाषा पर आश्रित हैं और जब तक इससे, अर्थात् भाषा से, संबंधित रहते हैं तभी तक उनकी सफलता है। अब तनिक संस्कृति के क्षेत्र में भी देखिए। समाज का क्रिया-कलाप ही उसकी संस्कृति का निर्माण करता है। समाज-शास्त्रवेत्ता भौतिक और अभौतिक दो प्रकार की संस्कृति मानते हैं। पहले प्रकार में हम उन सभी दृश्य पदार्थों को ले सकते हैं जिनसे मानवमात्र का सीधा

संबंध है अर्थात् मकान, वस्त्र, औजार आदि। और दूसरे प्रकार के अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था आ जाती है जिसमें धर्म, कानून, परम्परागत स्वभाव, भाषा आदि सम्मिलित हैं। जहाँ तक भौतिक संस्कृति का संबंध है उसका अध्ययन वस्तुओं को देखकर भी किया जा सकता है किन्तु अभौतिक संस्कृति, कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है; वह उसी अवस्था में अध्ययन की वस्तु बन सकती है जब हम यह देख सकें कि कोई विशिष्ट समुदाय उसके संबंध में क्या कहता है और कहते समय क्या प्रतिक्रिया होती है। साथ ही भौतिक संस्कृति के संपूर्ण उपादान भी तभी समझे जा सकते हैं जब उनका अधिक ज्ञान प्राप्त हो। अतएव भाषा, संस्कृति का एक प्रमुख रूप ही नहीं वरन्, हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक क्रियाओं का आधार है जिससे किसी भी आधुनिक समाज-समुदाय की विशेषताएँ जानने में सबसे अधिक सहायता मिलती है। 'संस्कृति का इतिहास' नामक पुस्तक में 'भाषा का दार्शनिक तत्व' के संबंध में प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड का कथन देखिए—'प्रत्येक समुदाय भाषा-संचलन क्रिया से निर्मित होता है। ध्वनित उच्चारण ही किसी समाज की क्रियाओं में अच्छी पहुँच कराते हैं। किसी भी मानव समुदाय को जानने के लिए हमें उसकी भाषा को जानना आवश्यक है। यदि हम मानव की गहराई में जाना चाहते हैं, उसके ऐतिहासिक विकास को समझना चाहते हैं तो आरम्भ से ही उसकी भाषा का एक व्यवस्थित विवरण सामने होना चाहिए। मनुष्य के सम्बन्ध में हम जो कुछ जान सके हैं वह सब इसी प्रकार के अध्ययन का परिणाम है। बिना इसके हम रूढ़ियों के दासमात्र होते हैं।'

'भाषा' एक ऐसा शब्द है जिसमें सभी समुदायों की विभिन्न भाषाएँ आ जाती हैं। इसे हम एक स्वेच्छ ध्वनि-व्यवस्था कह सकते हैं अतः भाषा एक व्यवस्था है और इस दृष्टि से यह अभौतिक संस्कृति अर्थात् धर्म आदि से भिन्न नहीं है, यह तो नियमों का एक समुदाय है, एक विधि है। कोई भी व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से जैसी की तैसी नहीं देखी जा सकती, विश्लेषण के द्वारा ही उसका वर्णन संभव होता है। जिस प्रकार किसी समाज विशेष के नियम होते हैं उसी प्रकार किसी भाषा विशेष का व्याकरण होता है जिसमें उसकी व्यवस्था का वर्णन होता है—ध्वनि, रूप, रचना आदि सभी की निश्चित व्यवस्था होती है। तदनन्तर भाषा-संकेतों की एक व्यवस्था है। बोलने वाले की ध्वनियां स्थिति और वस्तुओं से संबंधित

होती हैं। या यों कहिए कि व्यक्ति का कथन उसके अनुभवों पर आधारित होता है जिसे वह व्यवहार द्वारा प्राप्त करता है और ये अनुभव ही ऐसे संकेतों का रूप धारण करते हैं जिनका निश्चित अर्थ होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि शब्द केवल संकेत भर होते हैं और वे किसी भी प्रकार उन वस्तुओं अथवा स्थितियों के स्थानापन्न नहीं हो सकते जिनका वे संकेत करते हैं। अतः किसी भाषा-आकृति का अर्थ केवल कुछ सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना करना है। यह स्पष्ट ही है कि कोई भी बोलने वाला, अपने आस-पास की भाषा को, सुनकर ही सीखता है। वह इस बात से भी परिचित होता है कि किस प्रकार विशेष परिस्थितियों में विभिन्न प्रयोग होते हैं तथा किन अवस्थाओं में अर्थ-परिवर्तन होता है। परिस्थितियों, प्रयोगों तथा अर्थों की विभिन्नता से परिचित होना आवश्यक होता है, अन्यथा कोई भी व्यक्ति सफल भाषा-भाषी नहीं हो सकता। किसी समय-विशेष के लिए किसी शब्द के अर्थ-विशेष की व्यवस्था देना तभी संभव होगा जब हम उन सभी परिस्थितियों को समझ लें जिनमें इनका प्रयोग होते हुए सुना जाता है। यह एक कठिन कार्य है और इसके आधार पर सामान्य प्रवृत्तियों को अंकित करना तो और भी कठिन है। प्रायः निकटतम परिभाषाएँ देकर ही संतोष करना पड़ता है। यही कारण है कि कभी-कभी शब्द-कोश का आश्रय लेने पर भी हमें निराशा ही होती है और अभीप्सित अर्थ नहीं मिल पाता। साथ ही कोशकार की कठिनाइयों का भी अनुमान कीजिए कि उसे कितने विस्तृत क्षेत्र में अवतरित होना पड़ता है। उसका आधार भूत और वर्तमान के बृहद् क्षेत्र से भी अधिक होता है। इसके अतिरिक्त वे संकेत जिनसे भाषा बनती है ध्वनि-संकेत होते हैं। वैसे भाव-प्रकाशन में अन्य संकेत भी संभव हो सकते हैं और मानव के क्रिया-कलाप तथा भाव-प्रकाशन में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है, यथा—इशारे, परम्परागत चित्र, पताका-संकेत, यातायात-प्रकाश। किन्तु भाषा के अन्तर्गत ध्वनि-संकेत ही आते हैं। ध्वनि में भी भाषा के अन्तर्गत ढोल पीटना, बिगुल बजाना, घंटियां बजाना, भोंपू और सीटी की आवाज नहीं आते—यद्यपि ये भी श्रोत्रेन्द्रिय के विषय हैं और अपने क्षेत्र में भाव-प्रकाशन, परिवर्धन आदि का कार्य भी करते हैं। कहीं-कहीं तो इनका महत्त्व व्यक्त-ध्वनि-संकेतों से भी अधिक हो जाता है। मोहर्रम के ढोल, विभिन्न अवसरों पर फौज का बिगुल, कालेज आदि शिक्षण-

संस्थाओं की घंटियाँ, मोटर की 'पं पं पं' तथा स्काउटिंग की सीटी अपना अर्थ रखते हैं किन्तु इन्हें भाषा नहीं कहा जाता। इनका महत्त्व स्वीकार करने पर भी ये भाषा के अंतर्गत नहीं आते। अतएव भाषा से हमारा अभिप्राय उसी व्यवस्था से है जिसमें संकेत व्यक्त ध्वनियों के रूप में हैं, वे ध्वनियाँ जो मनुष्य द्वारा विभिन्न रूपों में स्वीकार की गई हैं। मानव के उच्चारण अवयवों से निःसृत सभी ध्वनियाँ भी भाषा-संकेत नहीं होते। छींकना, खांसना, मठारना, रोना- अपने से बाहर किसी भी बात को नहीं बताते। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार की ध्वनियां भी अपनी कोई परम्परा बना लेती हैं। जैसे जाते समय किसी का छींकना, बहू-बेटी के घर में खांसना, रात को मठारना आदि। इन सबके अतिरिक्त भाषा-संकेत स्वेच्छ हैं, स्वतंत्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि हमारे शब्दोच्चारण और उसके अर्थ में कोई सम्बन्ध हो ही। भाषा-उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों में कुछ इस ओर जाने का प्रयास करते हैं परन्तु हम जब हम उन्हीं अर्थों से संबंधित अन्य भाषाओं की शब्दावलि देखते हैं तो वे सिद्धान्त अपूर्ण और भ्रामक-से दिखाई देते हैं। प्राणिवाचक शब्दों में यही बात देखी जाती है। अंग्रेजी में कुत्ते का भोंकना 'वाउवाउ' फ्रेंच में 'नैफ नैफ', जापानी में 'वान वान' कहा जाता है। इसी प्रकार एक पशु-विशेष को हिंदी में 'घोड़ा' कहते हैं, फारसी में 'अस्प' संस्कृत में 'तुरंग' तथा फ्रेंच में 'शेवल'। इस प्रकार ध्वन्यात्मक, प्रतिरूपात्मक, प्राणिवाचक आदि सभी प्रकार के शब्द विविध भाषाओं में प्रायः अलग-अलग होते हैं। अपने-अपने क्षेत्र में ये शब्द उपयुक्त तथा निश्चित अर्थ के द्योतक होते हैं किन्तु इनमें एक दूसरे से सम्बन्ध खोजने की चेष्टा करना एक प्रकार से व्यर्थ-सा ही है। केवल परम्परा के आधार पर ही इन शब्दों के अर्थ निश्चित हुए हैं और किसी समुदाय-विशेष द्वारा इन्हें स्वीकृत कर लिया गया है। अतः यह बहुत कठिन होता है कि शब्द और पदार्थों में सम्बन्ध स्थापित किया जाय—एक प्रकार से यह कार्य असंभव ही होता है। यह स्वाभाविक है कि हमारी भाषा के शब्द निरंतर हमारे प्रयोग में आने से हमें वे तर्कपूर्ण और एकमात्र उपयुक्त लगते हैं और जब कोई अन्य भाषा-भाषी इसी अर्थ में दूसरे शब्द प्रयुक्त करता है तब हमें आश्चर्य-सा होने लगता है। यह आश्चर्य व्याकरण के रूपों में भी होता है, शायद शब्दों से कहीं अधिक। कुछ लोग तो पूर्ण भाषाओं में केवल संस्कृत, लैटिन आदि भाषाओं को भी गिनते हैं और

अन्य सभी भाषाओं को इनसे निकला हुआ, तर्कहीन तथा अशुद्ध मानते हैं। विश्लेषण की दृष्टि से भाषा-वैज्ञानिक को सभी भाषाएँ एक-सी महत्त्वपूर्ण और उपयुक्त हैं। साथ ही वह भावुकता की ओर भी नहीं जाता जो क्षेत्रीय होती हैं। अपने क्षेत्र की भाषा सभी को अच्छी लगती हैं—'शीरीं-ज़बान फ़ारसी', 'व्रजभाषा का माधुर्य', 'राजस्थानी का मीठापन' प्रायः सुनने में आते हैं। भाषा-वैज्ञानिक को यह माधुर्य सर्वत्र उपलब्ध होता है, पर भाषा-विश्लेषण करते समय उनका दृष्टिकोण भावुकता की अपेक्षा वैज्ञानिक अधिक रहता है।

भाषा-विश्लेषण का वह विद्यार्थी जो भाषा के संकेतों की स्वेच्छ प्रकृति से परिचित होकर पूरी तरह इन रहस्यों को समझ लेता है कभी गलती नहीं करता। वह तो प्रत्येक भाषा को उसके उस रूप में ही ग्रहण करेगा जो उसे सामान्यतः प्राप्य है। वह उसकी शब्दावलि, व्याकरण, ध्वनि-संकेत आदि का परीक्षण बिना किसी पक्षपात के प्रारंभ करेगा। उसमें यह भावना आएगी ही नहीं कि जिस भाषा से वह कम परिचित अथवा कम संबंधित है वह सारहीन और व्यर्थ है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इस प्रकार की भावना ही स्वयं सारहीन और भाषा के रूप को यथातथ्य समझने में हानिकारक है।

प्रत्येक सामान्य प्राणी अपने बचपन में ही कम से कम एक ऐसी भाषा अवश्य सीखता है, जिसका उपयोग वह प्रायः जन्म भर करता रहता है और यही उसकी मातृभाषा कही जा सकती है। 'मातृभाषा' से यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चे द्वारा सीखी जाने वाली भाषा में मातृपक्ष का आधिक्य रहता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है वह उस सम्पूर्ण नवीन सामग्री तथा उन सभी परिवर्तनों से भी अपने को परिचित रखता है जो उसके समाज विशेष के कारण उस भाषा में प्रविष्ट होते रहते हैं। बचपन में या उसके बाद भी भाषा सीखने की सामान्य पद्धति प्रायः एक ही प्रकार की रहती है। जो भी किसी भाषा को सीखता है उसके पास उसका सूचना-माध्यम होना आवश्यक है। मातृभाषा में सूचना-माध्यम माता को समझा जा सकता है। आवश्यकता इस बात की भी होती है तथा ऐसा सामान्यतः होता देखा भी जाता है कि वह ध्वनियों को उसी प्रकार निकाले जैसे उसका माध्यम उन ध्वनियों का उच्चारण करता है—अनुकरण की पूर्णता ही उस भाषा-ज्ञान का एक माप होती है। अनुकरण की क्रिया में भी उसे

निरंतर आगे बढ़ते देखा जाता है और एक समय ऐसा आता है जब उसका अनुकरण बहुत पूर्ण दिखाई देने लगता है—यद्यपि इस पूर्णता को प्राप्त करने की क्रिया काफी कष्टप्रद और अनेक परिस्थितियों पर आश्रित रहती है। अब यदि भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि से देखें तो जिन कथनों को वह सीखता है, अथवा सुनता भी है, उनका वर्गीकरण और विश्लेषण करना उसे आना चाहिए। किसी भाषा को सीखने का सबसे उत्तम माध्यम उस भाषा को मातृभाषा के रूप में बोलने वाला व्यक्ति है। इस माध्यम के साथ किस प्रकार कार्य किया जाय—इस पद्धति पर येस्पर्सन ने 'विदेशी भाषा के व्यावहारिक ज्ञान' नामक पुस्तक में प्रचुर सामग्री दी है। सूचना माध्यम के द्वारा भाषा को सीखने में इतनी ही बुद्धि की आवश्यकता है जितनी किसी बच्चे में होती है। भाषा सीखने में कोई ऐसी ईश्वरीय देन नहीं होती जो किन्हीं में हो और किन्हीं में नहीं हो। सामान्य रूप से सुनने वाला और सामान्य उच्चारण-अवयवों वाला व्यक्ति भाषा सीखने और बोलने में समर्थ हो सकता है। इस संबंध में ब्लॉख और ट्रैगर का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति जो बधिर और मूर्ख नहीं है और जो अपनी मातृभाषा को अच्छी तरह जानता है किसी भी भाषा को पांच साल के अन्दर सीख सकता है, अपरिचितों को यह भाषा प्रारंभिक कठिनाई उपस्थित कर सकती है। कोई भी व्यक्ति चेष्टा करने से अधिक अवस्था होने पर भी एक या अधिक विदेशी भाषाओं में दक्षता प्राप्त कर सकता है। विनोबा भावे आज भी अन्य भाषाओं के सीखने में रुचि रखते हैं और कई भाषाएं उन्होंने इधर अपनी वृद्धावस्था में ही सीखी हैं। भाषा सीखने में आवश्यकता इस बात की होती है कि वह सीखने की उचित प्रणाली का अनुसरण करे और कभी भी उसके मस्तिष्क में भाषा-विषयक पक्षपात अथवा ऐसी अन्य कोई मिथ्या धारणा न आने पाए, बालवत् स्वच्छ बुद्धि रखे।

भाषा सीखने की एक पद्धति यह भी हो सकती है कि भाषा सीखने वाला अपने माध्यम के कथन को बार-बार दुहराए। बच्चे को देखिए—उसमें किसी भी प्रकार की भाषा संबंधी पूर्व धारणाएँ नहीं होतीं। वह अपने मां-बाप, पास वाले तथा अन्य बोलने वाले व्यक्तियों की पक्षपातरहित होकर नकल करता है और निरंतर 'अभ्यास तथा त्रुटित्व' की लम्बी क्रिया द्वारा अंत में उस भाषा को आसानी से बोलने लगता है। इस बीच वह अपने अनेक प्रयोग भी करता है जिन्हें लोग विविध प्रकार से सुधारने की चेष्टा करते हैं

पर बालक के नव प्रयोग केवल प्रयोगों तक ही सीमित रहते हैं। कभी-कभी कोई प्रयोग स्थायी बनकर उस बालक-विशेष द्वारा बोले जाने वाली भाषा में विशेषता का द्योतक बना रहता है और व्यक्तिगत भाषा के अन्तर्गत आ सकता है। वयस्क की कठिनाई यह है कि, पहले से ही, उसके बोलने की कुछ बनी हुई आदतें होती हैं। अपनी मातृभाषा के बोलते-बोलते उसका एक निश्चित ढंग बन जाता है वह उस भाषा का उच्चारण जिस सुविधा और दक्षता के साथ करता है उसी बनी हुई आदत के कारण जब वह किसी अन्य भाषा का उच्चारण करता है तब अपने उच्चारण अवयवों का एक विचित्र रूप में प्रयोग होते देख उसे एक बाधा-सी दिखाई देने लगती है—अजनबीपन तो लगता ही है। इसी कारण जब वह कोई अन्य भाषा सीखता है तो अपने सूचना माध्यम को आसानी से दोहराने की अपेक्षा वह रुकावट का अनुभव करने लगता है। कभी-कभी तो वह कुछ ध्वनियों को अनुच्चरणीय बता देता है और कहने लगता है कि उस भाषा वाले ही उसका उच्चारण कर सकते हैं। इस प्रकार की धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। कोई भी भाषा इस प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग नहीं करती जिसे कोई विभाषी पूर्णता के साथ उच्चारण न कर सके। मैंने कई ऐसे ध्वनि-विशेषज्ञों को देखा है, सुना है, जो किसी भी भाषा का उच्चारण करने में असफल नहीं होते; मातृभाषा के रूप में ही उच्चारण करते हैं। लंदन के स्कूल ऑफ आरियण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज़ में ध्वनि-विज्ञान के प्रोफेसर स्कॉट को जिन लोगों ने सुना है वे इस बात के साक्षी हैं कि यूरोप के अतिरिक्त अफ्रीका, एशिया आदि देशों की भाषाओं का उच्चारण करने में उन्हें वही दक्षता है जो अपनी मातृभाषा अंग्रेजी का उच्चारण करने में। आवश्यकता इस बात की है कि उनका अंकन ठीक होना चाहिए। मेरे साथ अफ्रीका, स्याम, चीन आदि के विद्यार्थी भी थे उन्होंने मुक्तकंठ से इस बात को स्वीकार किया कि प्रोफेसर महोदय उनकी भाषा ध्वनियों का ठीक उच्चारण करते हैं। इस प्रसंग में भाषणकर्ता को ध्वनि-विज्ञान के आधारभूत कुछ शिक्षण की आवश्यकता होती है साथ ही यथेष्ट प्रयोग की भी और इस बात पर विश्वास कि दुनिया की किसी भी भाषा में कोई ध्वनि अनुच्चरणीय नहीं होती। व्यक्ति-माध्यम से प्राप्त सामग्री के विश्लेषण और वर्गीकरण में या तो इतना समय होना चाहिए जितना किसी बच्चे की अभ्यास और त्रुटित्व क्रिया में लगता है अथवा उसे इस विज्ञान की पद्धति का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए।

यह आवश्यक नहीं कि भाषा-वैज्ञानिक बहुभाषा-भाषी ही हों अथवा भाषा-विशेष पर उसका पूर्ण अधिकार हो। वह तो एक ऐसा विशेषज्ञ है जिसका विषय भाषा है और जिसका कार्य है कथन के तत्वों का (जैसा वह मूल भाषियों द्वारा सुनता है अथवा लिखित रूप में पाता है) विश्लेषण और वर्गीकरण करके एक व्यवस्थित विवरण उपस्थित करना। अर्थ से वह इतना संबंध नहीं रखता जितना भाषा के संकेतों, रूपों और उनके पारस्परिक संबंध से रखता है। यह प्रसंगवश ही होता है कि कभी उसे अर्थ पर भी ध्यान देना पड़ जाता है। जब वह कथन-तथ्यों का वर्णन कर देता है और उन ध्वनियों का विवरण दे देता है जो किसी समाज-विशेष द्वारा प्रयुक्त होती है तो एक व्यवस्था-सी बन जाती है जिसे उस भाषा के व्याकरण का एक अंग कहा जा सकता है।

जिन तथ्यों का वह वर्णन करता है उन्हें स्पष्ट करने के लिए भाषा-वैज्ञानिक भाषा के प्राचीन रूपों को भी देखता है और कभी-कभी संबंधित भाषाओं से उसकी तुलना भी करता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस क्रिया का केवल मात्र उत्तर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक विवरण उपस्थित करना है। एक पशु-विशेष को हम 'घोड़ा' क्यों कहते हैं, स्टान का स्टोन क्यों हो गया, गूज़ का बहुवचन गीज़ क्यों होता है–इन सबके लिए ऐतिहासिक विवरण अपेक्षित है।

जब कोई भाषा-वैज्ञानिक किसी मौखिक भाषा या किसी समुदाय-विशेष की भाषा के लिखित रूप का विश्लेषण और वर्गीकरण कर देता है तो वह इस स्थिति में होता है कि अपने परिणामों को संक्षिप्त तथा व्यवस्थित रूप दे सके ताकि अन्य लोग भी उससे परिचित हो सकें। वह उस भाषा का व्याकरण भी लिख सकता है और बता सकता है कि बातचीत करते समय बोलने वाले 'क्या' कहते हैं। 'क्या करना चाहिए' इससे उसे कुछ मतलब नहीं। उसके द्वारा भाषा के प्रारंभिक ज्ञान-उपासकों के लिए एक अच्छी प्राइमर भी बनाई जा सकती है। इस प्रकार की प्रारंभिक पुस्तकों से कोई भी विद्यार्थी काफी समय बचा सकता है और उन मूल त्रुटियों से भी बच सकता है जो बाद में जीवन भर पीछा नहीं छोड़तीं। इस अवस्था में भी सूचक की आवश्यकता होती है क्योंकि उत्तम से उत्तम पुस्तक भी ध्वनियों का उच्चारण नहीं कर सकती और न ग्रामोफोन रिकार्ड ही समय-समय उपस्थित होने वाले प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं। वैज्ञानिक रूप से पुस्तक

का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि वह भाषा के उन विश्लेषित और वर्गीकृत तथ्यों को उपस्थित कर देती है जिनका परीक्षण किया जा चुका है तथा जो अध्ययनकर्ता को सभी उपयोगी और ज्ञातव्य बातों की ओर प्रेरित करते हैं। इस प्रकार की प्रारंभिक पुस्तकें उपलब्ध न होने पर व्यवस्थित व्याकरण किसी सीमा तक सहायता करता है, किन्तु इसका प्रयोग करते समय अध्ययनकर्ता को सामग्री स्वयं ही क्रमानुकूल रखनी पड़ेगी और सूचना-माध्यम से भी काफी सहायता लेनी होगी।

दुर्भाग्य से बहुत ही कम देशों में विज्ञ भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा प्रारंभिक विवरण इस रूप में उपस्थित किए गए हैं। अधिक प्रचलित भाषाओं की पुस्तकें अवश्य मिलती हैं किन्तु इनका उपयोग मूलभाषी के काम को अधिक पूर्ण बनाने में किया जा सकता है उसके स्थान में नहीं। ऐसा करने पर ही विद्यार्थी का कुछ काम बन सकता है। बहुत-सी भाषाओं का तो लिखित रूप अब तक नहीं है और इनमें काम करने के लिए आरंभ से ही चलना पड़ता है तथा विश्लेषक को स्वयं ही व्यवस्था भी निकालनी पड़ती है। यदि सौभाग्य से किसी चतुर भाषा-वैज्ञानिक का पथ-प्रदर्शन हो गया तो कार्य अधिक तीव्र गति से हो सकेगा परन्तु यदि ऐसा सुयोग न मिला तो गति मंद होगी। दोनों ही अवस्थाओं में उसे विश्लेषण और वर्गीकरण की पद्धति से परिचित होना आवश्यक है। इसी पद्धति को बताने का एक लघु प्रयास यहां किया जा रहा है। भाषा-विश्लेषण के अनेक स्तर हो सकते हैं पर सुविधा के लिए उसके ध्वन्यात्मक, ध्वनि-श्रेणिमूलक, रूपात्मक तथा वाक्यात्मक अंगों को ही लिया जा रहा है और इस स्थान पर उनकी कुछ प्रमुख बातों का केवल संकेत मात्र ही उपस्थित किया जा रहा है।

ध्वनि-विश्लेषण—किसी भी भाषा का विश्लेषण करने में सर्वप्रथम उस भाषा की ध्वनियों का ज्ञान करना आवश्यक है। विश्लेषणकर्ता को उस भाषा के मूलभाषी के अनुसार उच्चारण अंकित करना होगा और यह तभी संभव हो सकेगा जब ध्वनियों का ऐसा विवरण दिया जाय जो सामान्यतः ग्राह्य हो। विश्लेषण में स्वतः ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि उस भाषा के बोलने वाला अंकित सामग्री के उच्चारण को आसानी से समझ सके। ध्वनि-विश्लेषण में कुछ सीमा तक टेप रिकार्डर का भी प्रयोग किया जा सकता है। उसको सुनकर अनुकरण करना, किसी सीमा तक, हमारे काम में सहा-

यक हो सकता है किन्तु केवल एक बार ही सुनकर उस ध्वनि का अनुकरण, अंकन और विश्लेषण—सभी कार्य कठिन होंगे। एडिनबरा विश्वविद्यालय के ध्वनि-विज्ञान-विभाग में एक ऐसी मशीन (मल्टी रिपीटर) पर मैंने स्वयं काम किया। इस मशीन में यह सुविधा होती है कि इच्छित ध्वनियां जितनी भी बार चाहें, दुहराई जा सकती हैं। जब आपकी आवश्यकता पूरी हो जायगी तभी टेप आगे चलेगा। अब तो इस प्रकार की ध्वनि-विश्लेषक कई अन्य मशीनें बन गई हैं। यहां एक बात ध्यान देने की है कि ध्वनि-विश्लेषण में हमारा कार्यक्षेत्र उच्चरित ध्वनियों तक ही सीमित है उसकी वर्ण-माला और लिखित रूप आगे की बातें हैं। उच्चारण पर पूर्ण अधिकार करने के उपरान्त ही लिखित रूप की ओर जाना उचित है अन्यथा हमारा कार्य अपूर्ण, प्रभावहीन और अस्वाभाविक होगा। यदि हमारा निवासस्थान ही उस समुदाय के बीच हो जो उस भाषा को बोलता है, अथवा उस भाषा बोलने वालों से हमारा लम्बा संपर्क हो तो बिना व्यवस्थित अध्ययन के भी हम किसी भाषा के उच्चारण में अच्छी योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। पर ऐसा होना प्रायः संभव नहीं होता। अधिक व्यावहारिक तो यह है कि उस भाषा का ध्वनिमूलक अध्ययन निश्चित प्रणालियों द्वारा करें जिससे कम समय में ही संतोषजनक परिणाम निकल सके। हर प्रकार के अध्ययन में हमें ध्वनि से संबंधित विश्लेषण, वर्गीकरण, विवरण आदि पद्धतियों का आश्रय लेना पड़ेगा और यही इस विज्ञान की सार्थकता है।

जो व्यक्ति ध्वनि-विज्ञान में दीक्षित होता है उसे कई लाभ होते हैं। परंपरागत प्रणाली से सीखने वाला व्यक्ति इनसे वंचित रह जाता है। यथा—

(१) उच्चारण अवयवों की बनावट और उनकी परिचालन क्रिया को जानने के कारण वह ध्वनियों का विश्लेषण और वर्णन इतने उपयुक्त रूप में कर सकता है कि वह स्वयं अथवा कोई भी व्यक्ति जो इस पद्धति से परिचित है ध्वनियों का उच्चारण शुद्ध रूप में कर सकता है। वे जानते हैं कि किन ध्वनियों में कौन उच्चारण-अवयव किस प्रकार संचालित होते हैं।

(२) वह किसी भी भाषा की विविध ध्वनियों को वर्गीकृत और संबंधित कर सकेगा और इस प्रकार अस्तव्यस्त परिस्थिति में व्यवस्था लाकर १५-२० वर्गों में ही सभी ध्वनियों को रख सकेगा।

(३) इस पद्धति के आधार पर वह एक ऐसी शब्द-माला भी प्रस्तुत कर सकेगा जो आसानी से लिखी, पढ़ी और समझी जा सके। इस

विश्लेषण को क्रियान्वित करने में ध्वनि-विज्ञान की सामान्य बातों को जानना होगा–उसे उस पारिभाषिक शब्द-माला से भी परिचित होना पड़ेगा जिसके आधार पर ध्वनि-विवरण वर्गीकृत किया जा सके। वैसे वाक्-ध्वनि एक शारीरिक क्रिया है जिसके तीन रूप हैं :

(१) शारीरिक
(२) उच्चारणात्मक
(३) श्रवणात्मक

पहले उच्चारण उपयोगी अवयवों—होठ, जिह्वा, स्वरतंत्रियों आदि का प्रयोग किया जाता है। फिर इनके द्वारा हवा में ध्वनि-ऊर्मियां उत्पन्न होती हैं तदनन्तर वे ध्वनि-ऊर्मियां कर्णपट पर टकराती हैं और इस प्रकार श्रवण-कार्य प्रारम्भ होता है।

ध्वनि-विज्ञान की एक विशिष्ट शब्दावलि है और इसका प्रयोग निश्चित अर्थ में किया जाता है। हमारे देश की भाषाओं में शब्दावलि अभी निर्माण की अवस्था में है और निर्मित शब्दों का अर्थ स्थिर होने में तो कुछ और भी अधिक समय लगेगा। पर तब तक न जाने कितने नवीन शब्द प्रचलित हो जाएँगे। अतः इस कार्य में तेजी की आवश्यकता है, जिससे हम इस प्रगतिशील विषय के साथ चल सकें।

ध्वनि-संकेतों को निकालने में क्या क्रिया होती है ? स्वर-तंत्रियां किस प्रकार प्रयुक्त होती हैं ? उच्चारण के विभिन्न अवयवों का ध्वनि-विशेष के बोलने में क्या स्थान होता है ? ध्वनि-परिवर्तन में अवयवों का परिवर्तन किस प्रकार का है ? ओठ, जिह्वा और काकजिह्वा की विविध आकृतियों के क्या परिणाम निकलते हैं ? नासिका-मार्ग ध्वनियों में क्या परिवर्तन करता है ? इन सबका वर्णन इस स्थान पर अपेक्षित नहीं है। ध्वनियों की लिप्याभि-व्यक्ति में विशेष प्रकार के संकेतों का प्रयोग करना पड़ता है और यह अत्यंत आवश्यक भी है क्योंकि प्रथम तो भाषाओं में वर्तनी की विविधता है, दूसरे विभाषी लोगों के लिए उच्चारण की सुगमता करनी पड़ती है और उच्चारण-तुलना और भाषा की विधिवत् शिक्षा में भी इस क्रिया से सहायता मिलती है।

वर्गीकरण करने में स्वर (अग्र, पश्च, मध्य) अर्द्धस्वर, व्यञ्जन (सानुना-सिक सहित) आदि का ध्यान रखना पड़ता है। इसके साथ ही हमें उनकी कुछ अन्य गतिविधियां भी देखनी पड़ती हैं, जैसे ध्वनि-विशेष की

लम्बाई, उच्चरित स्वर की ऊँचाई-निचाई, ध्वनि पर दिया गया बल आदि। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए लोगों ने ध्वनि-लिपि का आविष्कार करने में काफी रुचि दिखाई। फ्रांस व इंगलिस्तान ने जर्मनी के सहयोग से एक अंतर्देशीय ध्वनि-वर्णमाला का निर्माण किया और ध्वनियों की लम्बाई, अनुनासिकता, मूर्द्धन्यता, तालव्यता, बलात्मक-स्वरात्मक आघात आदि का भी ध्यान रखा गया। इस वर्णमाला के द्वारा बहुत सीमा तक ध्वनियों का अंकन संभव हो सका है और एक लम्बे क्षेत्र में इसका प्रचार भी है। अपनी आवश्यकता के अनुसार कुछ देशों ने इसमें परिवर्तन आदि भी किए हैं। लेकिन इस वर्णमाला को आधार मानकर भी बहुत-सी ध्वनियां नहीं लिखी जा सकतीं, इनके लिए विविध प्रकार के अतिरिक्त संकेत काम में लाए जाते हैं। ध्वनियों के विविध गुणों की पुष्टि करने हेतु मशीनों का भी प्रयोग होता है जिनसे जिह्वा की टकराहट, मुख-नासिका-स्वरतंत्रियों के कार्य, प्राणत्व-अप्राणत्व, उतार-चढ़ाव आदि का ज्ञान किया जा सकता है। मशीनों के प्रयोग में निरंतर वृद्धि हो रही है। भारतवर्ष में भी ध्वनि-विज्ञान की कुछ प्रयोगशालाएं मशीनों का उपयोग करती हैं। भाषा-शिक्षण के लिए कुछ संबंधित प्रकार की प्रयोगशालाएं भी स्थापित हुई हैं। अमेरिका में प्रयोग-शालीय पद्धति का विस्तार तेजी के साथ हो रहा है।

ध्वनि-विश्लेषण के उपरान्त ध्वनिग्रामीय विश्लेषण आता है। जो व्यक्ति ध्वनि-शास्त्र में पटु हैं वे अपने सूचक के कथन में अनेक प्रकार की उच्चारण विविधता देखेंगे—कहीं किसी ध्वनि में किंचित प्राणत्व आ जाता है, कहीं ध्वनि अल्प प्राणत्व की ओर जाती दिखाई देती है, कहीं वह झटके से निकलती है, कहीं उसमें रुकावट होती है साथ ही उच्चारण की लम्बाई, बल आदि में भी अंतर होता है। ध्वनि-सामग्री का ध्वनि-वैचित्र्य संबंधी परीक्षण ही ध्वनि-ग्रामविश्लेषण कहा जा सकता है। **पल, अपना, आप; कमल, मकर, पुलक,** इन शब्दों में ही क्रमशः—'प' तथा 'क' की ध्वनियों को देखने से पता लगता है कि बोलने में अंतर है। पर यदि इन ध्वनि संकेतों को किंचित अंतर के आधार पर ही अलग-अलग करने लगें तो वर्तमान 'प' अथवा 'क' कही जाने वाली ध्वनि के ही अगणित भेद होंगे। यह बात कहां तक व्यावहारिक होगी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अतः मिलती-जुलती ध्वनियों को एक ही ध्वनि-संकेत के द्वारा व्यक्त करने की क्रिया अपनाई गई। इसी क्रिया के आधार पर यह

संभव हो सका कि भाषा-विशेष में १५-२० और अधिक से अधिक ६० ध्वनि-श्रेणियां ही कार्य करने में सफल को सकीं। वे ध्वनियां जो एक ही ध्वनि-श्रेणी में आती हैं ध्वनि के विचार से एक-सी ही मान ली गई हैं क्योंकि सामान्यतः व्यवहार में उनका ऐसा ही प्रयोग होता है। जब हम इन विविध प्रकार की ध्वनियों को ध्वनि-श्रेणियों में वर्गीकृत कर लेते हैं तो हमें कुछ इकाइयां मिल जाती हैं जिनको वर्णमाला कहा जा सकता है। ध्वनि-श्रेणी अथवा ध्वनिग्राम की ध्वनियां ध्वन्यंग, सहस्वन, स्वानिकी आदि कहे जाते हैं। सहस्वन शब्द अधिक चलने लगा है। ध्वनि-ग्राम संस्थापन की पद्धति कुछ इस प्रकार है—

(१) सभी ध्वनिग्राम एक साथ एकत्र करके अंतर्राष्ट्रीय अथवा किसी अन्य वर्णमाला के माध्यम से लिख लिए जाते हैं।
(२) इसी आधार पर विविध प्रकार के स्वर-व्यंजन लिख लेते हैं।
(३) सभी संकेतों को मिलाकर एक ध्वनिग्राममाला बन जाती है।
(४) इन वर्णों की लम्बाई, बल आदि पर भी ध्यान देते हैं।
(५) वाक्यों से सहायता लेकर भी ध्वनिग्रामों का निर्माण करते हैं।

ध्वनि की दृष्टि से ध्वनि-ग्राम एक ऐसा समुदाय है जिसमें मिलती-जुलती सभी ध्वनियां एकत्र हो जाती हैं। 'विश्व' शब्द में वैसे दोनों 'व' लिखे गए हैं किन्तु ये दोनों ध्वनियां अलग-अलग-हैं अतः ये दोनों (व) (व़)—(व) नामक ध्वनिग्राम के सहस्वन हैं। इस प्रकार के ध्वनिग्राम बनाकर भाषा-विश्लेषण के एक अंग का कार्य हो सकता है। किन्तु यह कार्य परिश्रम की आवश्यकता रखता है। पश्चिमीय विद्वानों के अनुसार ध्वनिग्रामों का निर्णय करने के लिए कई सिद्धान्तों को जानना आवश्यक होता है जैसे—

(१) ध्वन्यात्मक समानता का सिद्धान्त,
(२) परिपूरक वितरण का सिद्धान्त,
(३) व्यतिरेक का सिद्धान्त और
(४) परिमितता का सिद्धान्त

परिपूरक और व्यतिरेक सिद्धान्तों के अनुसार ध्वनियों का समस्थितियों में वितरण करके देखते हैं और उसके उपरान्त भाषा के सामान्य ढांचे में उनका परीक्षण होता है। इसके उपरान्त इस बात का ध्यान रखते हैं कि ध्वनिग्रामों का निश्चय करने में हमारा वर्गीकरण पूरा हो, सरल हो तथा

प्रचलित ढांचे के अनुसार हो। यह क्रिया अब एक प्रकार से मशीन जैसी बन गई है और मिलने वाले, कम मिलने वाले आदि समुदायों के आधार पर कार्य सम्पन्न किया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि इस प्रकार का विश्लेषण ध्वनि-विश्लेषण की ही एक सूक्ष्म पद्धति है। शुद्ध-पृथक् ध्वनि-विवरण की अपेक्षा ध्वनिग्राम विवरण बहुत ही व्यावहारिक है। उच्चारण के विविध अंगों को एक सीमित स्पष्ट दायरे में समेट कर रखने की क्रिया द्वारा बहुत कुछ सुगमता हो जाती है और भाषा पर कहीं अच्छा अधिकार होता है। यह क्रिया सिद्धान्त रूप में ही नहीं वरन् विदेशी भाषा सीखने की जब-जब चेष्टा की गई तब तब अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई। इससे भाषा के भावमूलक रूप की भी रक्षा हो जाती है।

रूपात्मक विश्लेषण की पद्धति भी सिद्धान्त रूप में लगभग वही है जो ध्वनिग्राम विश्लेषण की है। ध्वनियों के स्थान में यहां हम ध्वनि-समुदाय से निर्मित अनेक कथनों का परीक्षण करते हैं और उन कथनों के रूप-समुदाय को वर्गीकृत करने की चेष्टा करते हैं। यह तो उचित ही है कि प्रचलित भाषाओं में ध्वनिग्रामों का विश्लेषण पहले होना चाहिए और उनके बाद इन बड़ी इकाइयों—पदग्रामों—का। इन दोनों प्रकार के विश्लेषण में एक अन्तर है। उदाहरण के लिए 'विश्व' शब्द की दोनों ध्वनियों (व), (व़) को लीजिये। इन ध्वनियों का कोई अर्थ निकालने की चेष्टा करना व्यर्थ है। किन्तु किसी भी भाषा में कोई शब्द न केवल रूप ही रखते हैं वरन् एक विशेष क्रम में निर्मित ध्वनि-समुदाय होने के साथ ही अर्थ भी रखते हैं। इसी आधार पर कुछ लोग रूप-विश्लेषण अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हैं। किसी भी भाषा का व्याकरण दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है—रूप-विचार और वाक्य-विचार। रूप-विचार में शब्दों के रूप और उनकी आकृति पर विचार होता है और वाक्य-विचार में शब्दों और वाक्यों के गठन पर विचार होता है। इसी दृष्टि से कुछ लोग रूप-विचार तथा वाक्य-विचार साथ-साथ ही रखते हैं।

जब हम किसी सूचक की दी हुई सामग्री का परीक्षण करते हैं तो हम देखते हैं कि 'वही' या 'उससे मिलती-जुलती' आकृतियां एक से ही अर्थ में बार-बार आती हैं। 'हां', 'मेरा विचार है', 'बाहर जाकर', 'हो सकता है' आदि का सामान्य अर्थ प्रायः एक ही निकलता है किन्तु कुछ ऐसे रूप भी हैं जो ध्वनिग्राम के विचार से तो संबंधित हैं किन्तु रूप के विचार से अलग-

अलग हैं—खिलता है, खिलाता है; मानव, मानवता, मानवत्व; दृश्य, दर्शन, दर्शनीय आदि—जिनके अर्थ भिन्न तो हैं किन्तु संबंधित हैं। इस प्रकार की आवृत्ति के आधार पर विभिन्न लम्बाई के कथनों का हम विश्लेषण करते हैं। इस लम्बाई में 'शब्द' वह भाग है जो अकेला बोला जा सके और सामान्य कथन में जिसका अर्थ हो—इसको हम शब्द का स्वतंत्र रूप कह सकते हैं किन्तु वह भाग जो बोला तो जा सके किन्तु जो अकेला प्रयुक्त नहीं होता उसे आश्रित रूप कहा जा सकता है। ऊपर के शब्दों में 'ता' 'त्व' 'ईय' को हम आश्रित रूप कहेंगे। वह स्वतंत्र रूप जिसे और अधिक छोटे सार्थक रूप में विभाजित नहीं किया जा सके और जो संभावित छोटी से छोटी इकाई हो 'शब्द' कहलाता है। शब्द का वह स्वतंत्र तथा आश्रित रूप जो और छोटे हिस्से में विभाजित न हो सके 'मोरफीम' या 'रूपग्राम' कहलाता है। इसका अध्ययन कुछ इस प्रकार है :—

(१) रूपात्मक विश्लेषण में शब्दों की प्रकृति, प्रत्यय, रूप आदि सब आ जाते हैं। शब्दों के आदि-अंत में जोड़े जाने वाले भाग भी इस दृष्टि से विचारापेक्षित होते हैं। यह शब्द योग तीन प्रकार से देखा जा सकता है :—

(अ) पहले जोड़ने वाले — वि + भीषण = विभीषण
(ब) पीछे जोड़ने वाले — भीषण + ता = भीषणता
(स) बीच में आकर आधार शब्द में भी परिवर्तन करने वाले — सुमित्रा + अपत्यवा०=सौमित्र

(२) इन शब्दों के अंदर भी परिवर्तन के कारण तत्संबंधित अन्य अंतर भी पड़ जाते हैं—मर्त्य, मृत्यु, मृत—में कुछ इसी प्रकार का आन्तरिक परिवर्तन है।

(३) कभी-कभी पुनरावृत्ति भी होती है जो कभी संपूर्ण 'आधार शब्द' की होती है और कभी उसके किसी एक भाग की भी। मैक्सिको की भाषाओं में यह प्रवृत्ति अधिक बताई जाती है। हिन्दी में भी कुछ इस प्रकार के उदाहरण देखे जा सकते हैं—

अस्त-व्यस्त, अगड़-बगड़, चटर-पटर, पों-पों।

(४) पूर्ण परिवर्तन—इसमें धातु शब्द ही बदल जाता है और रूप अन्य हो जाता है। अंग्रेजी go, went अथवा हिन्दी के जाना, गया; है, था इसी प्रकार के परिवर्तन हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह परिवर्तित रूप अवश्य ही

एक दूसरे से संबंधित हैं किन्तु आकृति में इतना अंतर हो गया है कि संबंध का अनुमान अर्थ के स्तर पर ही लगाया जा सकता है। कुछ परिवर्तनों में कुछ भाग दिखाई दे जाते हैं—हंसना, अट्टहास; स्थित, सुस्थित।

(५) कहीं-कहीं परिवर्तन की मात्रा शून्य भी होती है जैसे अंग्रेजी के शब्द pice, sheep एकवचन—बहुवचन में। या हिन्दी

<u>आदमी</u> { जाता है / जाते हैं }, वह / तू } <u>आता है</u>, मैंने / तूने / उसने } <u>मारा</u>

रेखांकित शब्दों से पता लगता है कि यहां परिवर्तन तो शून्य है किन्तु जो विकार उत्पन्न हुआ है वह नितान्त स्पष्ट है। परिवर्तनशून्य शब्दों की अनेक तालिकाएँ बन सकती हैं। पदग्राम के विश्लेषण में इन सब बातों पर विचार होता है। किसी भी भाषा के 'पद' दो या अधिक श्रेणियों में आते हैं। हिन्दी में संज्ञा, सर्वनाम आदि पांच प्रकार के पद हैं, अँग्रेजी में इनकी संख्या आठ है। रूप-विचार में इनका विचार भी शामिल है। ढाले हुए शब्द, प्रत्ययों की गति, संबंधित शब्द, शब्दों के विभाग, अर्थ और रूप का पारस्परिक संबंध आदि कितनी ही बातें इसके अंतर्गत आती हैं। पदग्राम, विभक्तियुक्त शब्द-समुदाय, रूपात्मक अध्ययन-पद्धति और रचनात्मक व्यवहार के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इन विधियों से यह भी देखा जा सकता है कि विभिन्न श्रेणी और समुदाय, उनके भाग और उपभाग तथा उनके कार्य, विभिन्न भाषाओं में, किस प्रकार अलग-अलग हैं। इस प्रसंग में ध्वनि और व्याकरण दोनों प्रणालियों का नामोल्लेख किया जा सकता है—एक के द्वारा ध्वनिग्राम निश्चित होते हैं दूसरे के द्वारा पद जो वाक्य-रचना की ओर अग्रसर करते हैं।

निर्मित रूपों का संयोजन रचना कहलाता है। इन रूपों का निर्माण किस प्रकार हो, किन सीमाओं के अंतर्गत ये काम करें, संयोजन की क्रिया किस प्रकार गठित हो, रचना का आरंभ और समाप्ति कहाँ हो—ये कुछ प्रश्न स्वभावतः ही उठते हैं। किसी विदेशी भाषा का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि उसके रूपों का व्यवस्थित विश्लेषण करने के पूर्व उसके पूर्ण कथन-प्रकारों पर विचार करना आवश्यक है। इन पूर्ण कथनों में कोई तो शब्द मात्र हैं, किसी में दो या अधिक शब्द-रूप हैं। उदाहरण के लिए यदि हम हिन्दी का रचनात्मक विश्लेषण करें तो हमें हिन्दी में प्रयुक्त उन सभी प्रकार के

वाक्यों को एकत्र करना होगा जो इसमें प्रयुक्त होते हैं, जैसे—निश्चयात्मक, स्वीकारात्मक, निषेधात्मक, प्रश्नवाचक, तथ्यात्मक आदि। इस विश्लेषण में हमें वाक्य के विभिन्न अंशों का व्यवस्था-क्रम देखना होगा, और पता लगाना होगा कि उन वाक्यों को किस प्रकार नियोजित किया गया है। सबसे पहले हमें आवश्यक वाक्यांशों का चुनाव करना पड़ता है, कर्ता-कर्म वाक्यांशों को सावधानी से जमाना होता है। बहुत-सी भाषाओं में, ये वाक्यांश, प्रायः, एक-दूसरे से स्थान बदलने में शक्तिहीन होते हैं। स्थान परिवर्तन होने पर अर्थ में अन्तर आ सकता है, अतः वाक्यांशों का क्रम तथा शब्द-क्रम आदि निश्चित होते हैं। इसीलिए विश्लेषण करते समय आसन्न अंगों की युक्ति बिठानी पड़ती है। वाक्य के कौन अंग अपने निकट-तम अंग से किस प्रकार सम्बन्धित हैं और यह सम्बन्धित युग्म अन्य शब्द या युग्मों से कैसे जुड़ता है—इस प्रकार देखते हुए पूरे वाक्य का विश्लेषण किया जाता है। प्रायः देखा गया है कि क्रम निश्चित ही होता है परन्तु कहीं-कहीं विपरीत स्थिति भी देखी जाती है—संस्कृत में अनेक स्थितियों में क्रम पर ध्यान नहीं दिया जाता, वहां शब्दों के अन्दर ही वह शक्ति (सम्बन्धतत्वरूपिणी) निहित होती है जो उनका कार्य निश्चित कर देती है। वाक्यों अथवा वाक्यांशों में—

(१) शब्दों का क्रम निश्चित करने के उपरान्त कर्ता, क्रिया, कर्म आदि प्रमुख अंगों का शब्दक्रम देखना पड़ता है। संस्कृत आदि में यह क्रम अनिश्चित भी होता है। अंग्रेजी में यह क्रम svo है, हिन्दी में sov और संस्कृत में svo, ovs, osv, vos आदि प्रकार से हो सकता है (s= कर्ता, v= क्रिया, o= कर्म)

(२) यह भी देखना होता है कि सहायक शब्द, सहायक क्रिया आदि के प्रसंग में, किस क्रम से आ रहे हैं। हिन्दी का 'देख रहा था'—इसे 'देख था रहा', 'रहा था देख' आदि क्रम से नहीं रखा जा सकता।

(३) तीसरी बात परिवर्तन की है। 'मार डाला' में 'र्' 'ड्' में बदल कर 'माड्डाला' बन जाता है।

अतः नीचे लिखी तीन बातों पर विशेषरूप से विचार करना होता है—

(१) चुनाव, (२) क्रम तथा (३) परिवर्तन।

इनके साथ ही दो-तीन अन्य बातों पर भी ध्यान दिया जाता है—

(१) व्याकरणात्मक अनुरूपता—'मैं **गया**', *'मैं* **जाता हूँ**', *'मैं* **जाता था**'*—यहां वाक्य का एक भाग कर्ता के एक रूप में रहने पर भी बदलता रहता है। वे* **गये**, *हम* **जाते हैं**, *वह* **जाती थी**—*इसमें कर्ता के अनुसार वाक्यका दूसरा भाग बदलता है। इसका हमें चुनाव करना पड़ेगा, बिना चुनाव किए अर्थ में विकार उपस्थित हो सकता है और भाषा का मूलभाषी हमारे गलत चुनाव को किसी प्रकार स्वीकार नहीं करेगा। तीनों काल (भूत, वर्तमान, भविष्य), दोनों वचन (एकवचन, बहुवचन), दोनों लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग), तीनों पुरुष (प्रथम, मध्यम, अन्य) आदि सभी इस बात का स्पष्टीकरण कर सकते हैं कि चुनाव व्याकरणात्मक अनुरूपता के आधार पर ही होना चाहिए।*

(२) उपश्रेणियां—भाषा की अनेक शब्द-श्रेणियां अपनी उपश्रेणियां भी रखती हैं—अंग्रेजी के a, an; each, either *। इसी प्रकार हिन्दी के उपसर्गों का भी रचनात्मक विश्लेषण में स्थान है।*

(३) शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध—निश्चित भाषा के विश्लेषित रूपों में शब्दों का क्या क्रम हो, उनका पूर्वापर निर्वाह किस प्रकार हो—यह भी देखना होगा। हम उसी क्रम को स्वीकार करेंगे जो मूलभाषियों द्वारा स्वीकृत है। हम इस बात को मानकर चलते हैं कि व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक दोनों दृष्टिकोणों से भाषा वह पद्धति है जिसमें लोग बातचीत करते हैं—वह प्रणाली नहीं जिसे कोई अन्य व्यक्ति अपनी धारणा के अनुसार उन पर लादना चाहे। यहाँ इस बात के लिए स्थान ही नहीं कि भाषा का स्वरूप 'क्या होना चाहिए', हमें तो उस पर काम करना है 'जो (स्वरूप) है'।

जब विश्लेषणकर्ता इस प्रकार किसी भाषा के ध्वनि-समुदाय, ध्वनिग्राम-समुदाय, रूप, वाक्य-संरचना आदि का निश्चय कर लेता है और इनके सभी प्रकारों को रूप और रचना के विचार से वर्गीकृत कर देता है तो परिणाम-स्वरूप जो भाषा-विवरण होगा वह यथार्थ होगा और वही उस भाषा का कार्यवाहक व्याकरण भी होगा। इसमें भाषा के प्रायः सभी तत्वों का वर्णन आजाएगा और सभी सम्बन्धित व्यक्तियों को उस भाषा का स्पष्ट रूप उपलब्ध हो सकेगा। संक्षेप में यही भाषा-समीक्षा है।

२

भाषा-अध्यापन की प्रारम्भिक दिशा

भाषा-अध्यापन एक महत्त्वपूर्ण विषय है और नितांत आरम्भ से ही इस ओर सम्यक् ध्यान दिया जाना परमावश्यक है। आज इस बात की चर्चा सुनाई देती है कि भाषा का स्तर बहुत गिर गया है और शिक्षण के प्रत्येक स्तर पर भाषा को उन्नत करने की आवश्यकता है। अभी उस दिन राजस्थान सरकार का एक परिपत्र आया था जिसमें अन्य बातों के साथ इस बात की अनिवार्यता व्यक्त की गई थी कि हिन्दी और अँग्रेजी दोनों भाषाओं में कुशलता लाने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में मैंने अपने जो विचार दिए वे तो अन्यत्र प्रकाशित हैं पर जो अवस्था राजस्थान में है प्रायः वही अवस्था सर्वत्र सुनी जाती है। इसका एक प्रमुख कारण तो यह बताया जाता है कि भाषारम्भ ही समुचित प्रकार से नहीं होता। यदि नींव ही दृढ़ न होगी तो सुभवन-निर्माण का अनुमान करना एक मिथ्या धारणा होगी। अतः भाषा पढ़ाने का आरम्भ करते समय बहुत ही सजग रहने की आवश्यकता है।

जिस प्रकार भवन-निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में हमें सभी प्रकार की उपचार सामग्री संचित करनी होती है उसी प्रकार शिक्षण के आरम्भ में भी, विशेषतः भाषा अध्यापन कराते समय, सामग्री को समुचित रूप में एकत्र करना आवश्यक है। इस सामग्री के दो प्रमुख अंग हैं—अध्यापक और अध्येता। अध्यापक और अध्येता के वांछनीय उपक्रमों का वर्णन तो यहां नहीं होगा पर उस प्रणाली के प्रारम्भिक पक्ष पर किंचित प्रकाश डाला जाएगा।

पढ़ाते समय भाषा-विज्ञान का ज्ञान होना तो वांछनीय है ही, बाल-मनोविज्ञान जानने की भी आवश्यकता है। अध्यापक अपने विद्यार्थी पर रोब डालने, आज्ञा देने अथवा डराने के लिए नहीं होता वह तो उसका सहयोग प्राप्त करने, आकर्षित करने तथा समाज का उपयोगी सदस्य बनाने

के लिए होता है। अतः जब प्रसन्नमुख सहित उसका कक्षा में प्रवेश हो तो बालक अध्येता यही समझे कि उसका परममित्र, सर्वथा हित-चिंतक और उन्नति-प्रदायक व्यक्ति प्रविष्ट हुआ है।

आजकल अध्यापन के प्रारंभिक काल में अक्षर-ज्ञान को प्रधानता नहीं दी जाती। इसका एक कारण यह भी बताया जाता है कि अनेक भाषाओं की जो विविध लिपियाँ प्रचलित हैं उनके वर्णों का उच्चारण-प्रयुक्त-ध्वनि से मेल नहीं बैठता। अँग्रेजी की (व़) ध्वनि को (W) (डबल्यू) द्वारा बताया जाता है—कहाँ वर्ण का नाम 'डबल्यू' और कहाँ उसकी ध्वनि (व़); इसी प्रकार कहाँ (त) ध्वनि और कहाँ अरबी की (ط) (तोय)। भारतीय भाषाओं में यह त्रुटि, प्रायः, नहीं है। वर्ण का नाम सर्वथा ध्वनि-सूचक ही है। हिन्दी के सभी स्वर और व्यञ्जन इसी सूची में आते हैं। शायद यही कारण रहा हो कि हमारे यहाँ 'विद्यारम्भ' 'अक्षरारम्भ' कहा जाता था। भारत में, सर्वदा से ही, ध्वनि-ज्ञान को प्राथमिकता दी जाती रही है। हमारी पद्धति अक्षर-ज्ञान से आरम्भ होकर, मात्रा-ज्ञान, शब्द-ज्ञान तथा वाक्य-ज्ञान की ओर उन्मुख होती थी। पर अब यह बात मानी जाने लगी है कि भाषा-ज्ञान का आरम्भ वाक्यों से कराया जाए, इसके पूर्व न वर्ण बताए जाएँ, न लिपि का ज्ञान कराया जाए और न शब्दों के रूप। इन सब का ज्ञान बालक को स्वाभाविक रूप में, शनैः शनैः, स्वतः होना चाहिए। भाषा-अर्जन की यह क्रिया स्वाभाविक भी बताई जाती है क्योंकि आज का स्वीकृत सिद्धान्त यह है कि भाषा की उत्पत्ति वाक्यों से हुई और कालान्तर में शब्द तथा ध्वनियों के रूप में उसका विश्लेषण किया जाना संभव हो सका। अतः, मान्यता है, कि भाषा की पढ़ाई मौखिक वाक्यों द्वारा ही आरम्भ होनी चाहिए। कुछ शिक्षा-शास्त्री तो यहाँ तक भी कहते हैं कि इस व्यवस्था को पूरे एक सत्र तक चलाना चाहिए, किन्तु अधिक लोग इसे ६-७ सप्ताह तक ही सीमित रखना चाहते हैं।

इसके पश्चात् कार्ड और चित्रों का क्रम आता है। यह आरम्भ पहले ३, ४ कार्ड और चित्रों से ही होना चाहिए। वाक्यों को बार-बार दुहराया जाय। दिए गए अक्षर के क्रम में परिवर्तन किया जाय और इस क्रिया में कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी का सहयोग प्राप्त किया जाए। इसका अभिप्राय यह

कार्ड	वाक्य	सम्बन्धित चित्र
क	क़मल खिल रहा है।	
क	यह उसकी टोपी है।	
क	काम क़रना चाहिए।	
क	यह मेरी नाक़ है।	

होगा कि बालक चित्रों और सम्बन्धित वाक्यों के आधार पर वर्णों की आकृति से भी परिचित होगा।

भाषा के लिखित रूप में प्रयुक्त वर्णों की आकृतियां अनेक रूपों में दिखाई देती हैं। नागरी लिपि में तो यह प्रवृत्ति और भी प्रमुख दिखाई

सम → कमल नाक पढ़वा

ऊपर → परसों पैंदायश घरोंदा

नीचे → कुल शकुन राजू

ऊपर + नीचे → कलुषित पुलिस

देती है। इसे समझने की चेष्टा की जाए। ऐसी अनेक अन्य आकृतियां भी हो सकती हैं।

आकृतियों के जो उतार-चढ़ाव सामने आते हैं बालक उनके साथ अपना सम्बन्ध बिठाने की चेष्टा करता है। अध्यापन के समय बालक का सहयोग उच्चारण तथा श्यामपट्टलेखन के रूप में बराबर लेना चाहिए—परन्तु ध्यान रखा जाए कि भाषा-शिक्षण अन्य विषयों के अध्यापकों की आलोचना का विषय न बन जाय। सीखने वालों के लिए इस प्रकार की आलोचना अहितकारी होती है। अतः इस पद्धति पर नियंत्रण और संयम रखा जाए और यदि हो सके तो विशेष प्रकार के अध्यापन-कक्षों की व्यवस्था की जाए। भाषा-शिक्षण, अपने आप में, एक वैज्ञानिक विषय है और उसकी इस प्रवृत्ति का निर्वाह करना चाहिए। वर्णों के नाम बताने की क्रिया बहुत बाद की है। पहले वाक्य बताएँ, फिर शब्द, तदनन्तर ध्वनियाँ और उसके काफी समय बाद ध्वनिद्योतक वर्णों के नाम बताने का उपक्रम करना चाहिए।

उच्चारण, स्वर-आरोह-अवरोह, कलात्मकता, सुर आदि की दृष्टि से भाषाओं में अन्तर देखा जाता है और इन बातों का सम्यक् ज्ञान उन्हीं को होता है जो उस भाषा का सामान्यतः प्रयोग करते हैं। अतः भाषा-अध्यापक के रूप में ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता समझी जाती है जो उस भाषा को अपनी मातृभाषा के रूप में प्रयुक्त करता हो। यह आदर्श पूरा करना बहुत कठिन है; विशेषतः भारत जैसे विशाल देश में जहाँ अँग्रेजी प्रचुर मात्रा में पढ़ाई तो जाती है पर अध्यापकों का अभाव है—न द्रव्य और न इतना विशाल अध्यापक-समूह। इस समस्या को हल करने की चेष्टा की गई है पर अभी तक संतोषजनक समाधान सामने नहीं आया है। अध्यापकों का पारस्परिक संपर्क उपयोगी हो सकता है पर इनके बीच उन अध्यापकों का होना आवश्यक है जो भाषा-विशेष को मातृभाषा के रूप में बोलते हैं। हमारे देश में हैदराबाद, कोट्टायम, दिल्ली आदि स्थानों में इस प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध हैं; अँग्रेजी के लिए ब्रिटिश काउंसिल भी प्रयत्न करती है और विभिन्न स्थानों पर विशेष कोर्स आयोजित किए जाते हैं। भाषा सीखते समय हमें यह मानकर चलना चाहिए कि जो भाषा सीखनी है उसे विधिवत् सीखा जाय। पढ़ना, समझना, लिखना और बोलना उस भाषा के नियमों के अनुसार हो और सभी स्तरों पर हमारी भाषा में वह साहित्य उपलब्ध हो जो औरों को प्रभावित कर सके।

3

ध्वनि-विश्लेषण की प्रयोगशालीय पद्धति

ध्वनि-विज्ञान एक महत्त्वपूर्ण आधुनिक विषय है। यह भाषा-विश्लेषण का अङ्गमात्र ही नहीं है वरन् उसका बहुत बड़ा पोषक भी है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारत में इस विज्ञान पर बहुत बल दिया गया किन्तु, जैसा अन्य अनेक ज्ञान-विज्ञानों के सम्बन्ध में हुआ, कालान्तर में हम इस विज्ञान को प्रायः भूल ही गए और जो कार्य हमारे पूर्वजों ने उठाया था उसके विकास में कुछ भी योग नहीं दिया जा सका। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आचार्य डा० डबल्यू० एस० एलन ने अपनी एक ख्यातिप्राप्त पुस्तक 'प्राचीन भारत में ध्वनि-शास्त्र' में लिखा है कि ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय विद्वानों द्वारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। इसके पूर्व ह्विटनी द्वारा भी एक ऐसा ही प्रयास हुआ था। भारत के डा० सिद्धेश्वर वर्मा तथा इँगलैंड के प्रो० जे० आर० फर्थ द्वारा भी मूल्यवान कार्य किया गया। वेदांगों का 'शिक्षा' नामक अङ्ग ध्वनि-विज्ञान के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इस क्षेत्र में 'भारद्वाज-शिक्षा' एक अच्छा प्रयास है। महाभाष्य और पाणिनि-शिक्षा का उल्लेख भी अवश्य करना चाहिए इनकी ओर केलहार्न और रीनू जैसे प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान आकर्षित हुए। शास्त्रीय शिक्षा, तर्कसम्मत शिक्षा और शिक्षा-संग्रह का भी नामोल्लेख करना चाहिए। इस श्रेणी में व्यास-शिक्षा भी आती है। इन सभी पुस्तकों का अध्ययन यूरोपीय विद्वानों द्वारा भी हुआ है और वे इस बात को सर्वथा स्वीकार करते हैं कि भारतीय विद्वानों द्वारा ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने अपनी पुस्तक में इस प्रसंग पर महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान की है। उनका अध्ययन अनेक शिक्षा ग्रंथों पर आधारित है। अमेरिका के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड का कथन है—भारोपीय तुलनात्मक व्याकरण में केवल एक ही भाषा का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है और वह है पाणिनि के व्याकरण में। भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं जैसे ग्रीक, लैटिन आदि की जो परंपरागत व्याकरणमूलक पुस्तकें हैं वे नितान्त अधूरी

और अव्यवस्थित हैं। अपनी मातृभाषा का जो सम्पूर्ण विवरण पाणिनि के द्वारा प्रस्तुत किया गया वैसा विवरण किसी भी प्राचीन भाषा का नहीं मिलता। और न इस बात की संभावना ही है कि आधुनिक काल की किसी भी भाषा का विवरण इतनी पूर्णता के साथ लिखा जा सकेगा। हमारे पास कितनी ही टिप्पणियां हैं किन्तु उनकी सहायता से भी पाणिनि द्वारा वर्णित भाषा में पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें अनेक जन्मों तक परिश्रम करना पड़ेगा। यह आंका गया है कि पाणिनि के आदर्श से प्रभावित होकर संस्कृत व्याकरण पर लगभग १००० संस्कृत कृतियां हैं—इनके सम्मुख लैटिन व्याकरण के हज़ारों हस्तलिखित ग्रन्थ, जिन पर हमारी पश्चिमीय परम्परा को इतना अभिमान है, व्याकरण के महासागर में बिन्दु-सदृश हैं।

आधुनिक ध्वनि-विज्ञान के ज्ञाता १९ वीं सदी से पहले देखने की चेष्टा नहीं करते। इस सम्बन्ध में एडिनबरा के डेविड अबरक्राम्बी ने ब्रिटेन की भाषा-विज्ञान-समिति की पत्रिका में 'विस्मृत ध्वनि-शास्त्री' शीर्षक से एक सुन्दर निबन्ध प्रकाशित कराया था। किन्तु इन विस्मृत ध्वनि-शास्त्रियों की भारतीय परम्परा और भी प्राचीन है। भारतीय और आधुनिक पश्चिमीय भाषा वैज्ञानिकों के बीच, व्याकरण की अपेक्षा, ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में अधिक सामीप्य प्रतीत होता है क्योंकि जब पाणिनि के व्याकरण-सिद्धान्त लैटिन के व्याकरण के प्रतिकूल दिखाई देते हैं तब भारतीय ध्वनिशास्त्रियों का प्रभाव आधुनिक ध्वनि-विज्ञान पर अधिक माना जाता है। इसी प्रकार के एक प्रसङ्ग में प्रोफेसर फर्थ का कहना है—भारतीय वैयाकरणों और ध्वनि-शास्त्रियों के बिना १९ वीं शताब्दी के ध्वनि-शास्त्रियों की कल्पना करना ही कठिन है, यद्यपि आधुनिक युग में हमारे द्वारा ही इन भारतीय विद्वानों का परिचय कराया गया है। इस सम्बन्ध में सिद्धेश्वर वर्मा की 'भारतीय वैयाकरणों के ध्वनि-निरीक्षण का आलोचनात्मक अध्ययन' नामक पुस्तक में मूल्यवान सामग्री प्राप्त होती है।

प्राचीन भारत में हमारे ध्वनि-विज्ञान को जानने के दो स्रोत हैं—प्रातिशाख्य और शिक्षा—इनमें से प्रथम ध्वनि सम्बन्धी पुस्तकें हैं जिनका वैदिक उच्चारण से सम्बन्ध है और दूसरे प्रकार की पुस्तकों में प्रथम पुस्तकों द्वारा दिए गए ज्ञान का पूरक अंश है। विशेष रूप से ध्वनि-विज्ञान की इन पुस्तकों के अतिरिक्त व्याकरण की कृतियों में भी ध्वनि सम्बन्धी प्रसङ्गों पर

अनेक वक्तव्य प्राप्त होते हैं, विशेषकर पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि के महाभाष्य में। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि अवैज्ञानिक ग्रन्थों में भी ध्वनि-विज्ञान की विविध बातों का परिचय मिलता है जैसे स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, अर्द्धस्वर, सघोष, उच्चरित, उच्चारण-स्थान आदि से सम्बन्धित विविध प्रसंग।

इस स्थान पर भारतीय विद्वानों द्वारा किए गए कार्य की प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो इस युग के सभी ध्वनि-शास्त्रियों द्वारा स्वीकार कर ली गई है। ध्वनि-विश्लेषण कार्य में जो एक बड़ा अन्तर हमें दिखाई देता है वह है—प्रयोगशालीय पद्धति। अपने अनुभव और निरीक्षण के आधार पर जो बात हम कहते हैं उसकी पुष्टि विभिन्न प्रकार के ध्वनि-यंत्रों द्वारा, आज के युग में, सम्भव है। यूरोप का प्रायः, प्रत्येक ध्वनि-विज्ञान विभाग अपनी एक अलग प्रयोगशाला रखता है और अमेरिका की प्रयोगशालाएँ तो विभिन्न प्रकार के ध्वनि-यंत्रों से भरी पड़ी हैं। भारतवर्ष में भी श्रीगणेश हो चुका है और डेकन कालेज पूना, हिन्दी विद्यापीठ आगरा, अन्नामलाइ विश्वविद्यालय आदि में ध्वनि-यन्त्रों की व्यवस्था है। बहुत से अन्य स्थानों में भी इस ओर प्रयत्न जारी हैं। यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि विदेश की प्रयोगशालाओं में कहीं अधिक यन्त्र हैं और उनका उपयोग भी अधिक मात्रा में हो रहा है। किसी भाषा का ध्वनि-विश्लेषण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इसकी सहायता से शुद्ध उच्चारण का प्रश्न भी पूर्ण-रूपेण हल हो जाता है। ध्वनि-विज्ञान में दीक्षित विद्यार्थी उच्चारण पर अधिकार पा लेता है। लिखने की विदेशी पद्धति को सीखने में उसे सुविधा होती है। जो व्यक्ति मामूली तरीके से सीखते हैं उनकी अपेक्षा ध्वनि-विज्ञान में पारंगत व्यक्ति को कम से कम तीन लाभ तो हैं ही :—

(१) मानवी ध्वनि-यंत्र की बनावट और उसकी संचालन क्रिया को जानने से वह विदेशी-ध्वनियों के निर्माण का विश्लेषण इतनी योग्यता और निश्चितता के साथ कर सकता है कि वही नहीं वरन् और भी व्यक्ति जिसे इस प्रकार की शिक्षा मिली हुई है ध्वनियों का उच्चारण समुचित रूप से कर सकता है क्योंकि वह अपने उच्चारण-अवयवों का प्रयोग उसी प्रकार कर सकता है जैसा विवरण, विश्लेषण के आधार पर, उसके सामने है।

(२) विदेशी ध्वनियों की अनेकरूपता और अव्यवस्था को वह इस

प्रकार वर्गीकृत कर सकता है कि उनमें पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाए और जो गड़बड़ी दिखाई देती है उसमें एक ऐसी व्यवस्था उत्पन्न हो जाए कि चुनी हुई कुछ इकाइयों के अंदर समाहित हो सकें।

(३) इस पद्धति के आधार पर विदेशी भाषाओं का वह एक ऐसा व्यावहारिक वर्ण-विन्यास-क्रम निर्मित कर सकता है जो आसानी से लिखा और पढ़ा जा सके, जिसके आधार पर वह शब्दों और व्याकरण के रूपों को अंकित कर सके और सम्बन्धित वाक्य तथा पाठ में उनका प्रयोग कर सके।

मनोवैज्ञानिक आधार के अतिरिक्त वाक् ध्वनि का भौतिक आधार भी होता है जिसके शारीरिक, ध्वन्य तथा श्रव्य कई रूप हो सकते हैं। बोलने वाला अपनी जिह्वा, ओठ और अन्य उच्चारण अवयवों से कुछ क्रिया करता है यह उस वाक् ध्वनि का भौतिक रूप है। ध्वनि की दृष्टि से उच्चारण अवयवों का यह परिचालन कुछ ऊर्मियां उपस्थित कर देता है जो मुंह और नाक के मार्ग से वायु में ध्वनि-लहरों के रूप में प्रसारित होती हैं और कान की झिल्ली पर जाकर टकराती हैं। इससे भीतरी कर्ण-यन्त्र प्रभावित होता है और श्रवण-स्नायु ध्वनि-श्रवण की क्रिया सम्पन्न कराते हैं।

सुनने का यह सम्पूर्ण आधार अब यन्त्रों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है और इस स्थान पर मैं यहां कुछ ऐसी मशीनों का ही विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनके द्वारा ध्वनि की प्रतिक्रिया आँखों के समक्ष उपस्थित हो सके। जो बात केवल अनुभव का ही विषय रही है वह दृश्य रूप में सामने आ सके। फर्थ के शब्दों में इस बात को फिर भी, स्मरण रखना चाहिए कि ध्वनियों के वास्तविक रूप को यन्त्रों की सहायता से अध्ययन करना अथवा उनके उच्चारण की क्रिया को भौतिक रूप प्रदान करना भाषा सम्बन्धी समस्याओं का किसी हद तक ही समाधान कर सकता है, और जब तक इनका सम्बन्ध बोलने अथवा सुनने वाले के अनुभव से स्थापित नहीं किया जाता तब तक सर्वग्राह्य परिणाम नहीं निकल सकते। जो व्यक्ति अनुभवीय पद्धति को नहीं भी मानते वे भी किसी न किसी रूप में इसका प्रयोग करते ही हैं। आशा तो यही की जाती है कि प्रयोगशाला में काम करने वाले ऐन्द्रियिक अनुभवों को आधार बनाकर अपना यांत्रिक विवरण उपस्थित करने की चेष्टा करें। यही विवरण कहीं अधिक विश्वसनीय होगा। मेरे एक स्वीड मित्र, हामरस्ट्राम जो आस्ट्रेलिया में भाषा-विज्ञान के प्रोफेसर

हैं, इस बात को मानते हैं कि यन्त्रों द्वारा प्राप्त विश्लेषण भ्रमपूर्ण होता है। इङ्गलैण्ड के कानीकन का भी कुछ ऐसा ही मत है।

ध्वनि-विश्लेषण में यन्त्रों का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। एक अमरीकी लेखक का कहना है कि इस क्रिया में १९४० के उपरान्त युद्धकालीन परिस्थिति में विशेष प्रगति हुई। कुछ समय तक टेलीफोन-अभियन्ता ऐसे यन्त्रों का आविष्कार करने में रुचि रखते रहे जिनके द्वारा टेलीफोन के तार अथवा बेतार के द्वारा प्रसारित की गई ध्वनियों को अच्छे प्रकार से समझा जा सके। उन्हें यह भी आशा थी कि वे एक ऐसी पद्धति का आविष्कार कर सकेंगे जिसके द्वारा एक बधिर व्यक्ति भी संदेश प्राप्त कर सके। सन् १८६७ में ही एलेक्ज़ेंडर मैलवील बैल ने एक प्रश्न उठाया था कि परंपरागत वर्तनी द्वारा लिखित ध्वनि को किन अन्य साधनों के द्वारा अधिक प्रत्यक्ष और प्रभावशाली बनाया जा सकता है। धीरे-धीरे ध्वनि-शास्त्र का अध्ययन प्रसार पाने लगा और चेष्टा की जाने लगी कि उन वाक् ध्वनियों को जो मुख अथवा नासिका द्वारा निकलती हैं औच्चारणिक और आवयविक शब्दावलि के सहारे वर्णित किया जाए। अब तो इस ओर और भी अधिक काम हो रहा है और भौतिक-विज्ञान तथा गणित के योग से विश्लेषण और विवरण की क्रिया पूर्ण वैज्ञानिक होती जा रही है।

पहले ध्वनि-शास्त्री एक कृत्रिम तालु का प्रयोग करते थे। आजकल भी सीमित मात्रा में यह प्रयोग चल रहा है। मैं इस तालु-क्रिया को ध्वनि-विश्लेषण में एक गंदा-सा व्यापार मानता हूँ। परन्तु यदि सावधानी से कार्य किया जाय तो कुछ बातों के समझने में बहुत सहायता मिलती है। इस क्रिया में कृत्रिम तालु पर काली चाक समरूप में फैला दी जाती है और इसे मुंह में दांतों के सहारे तालु पर जमा लेते हैं। आजकल टाफी पाउडर का प्रयोग भी किया जाता है। जब कोई ध्वनि बोली जाती है तो ज़बान की रगड़ या टकराहट से कृत्रिम तालु पर फैला हुआ पाउडर हट जाता है और इस प्रकार जिह्वा की टकराहट या रगड़ के स्थान का पता लग सकता है। इस क्रिया को पैलेटोग्राफी कहते हैं। इसकी क्रिया-पद्धति बहुत सीधी है परन्तु काम करने में बहुत सावधानी करनी चाहिए। जिस किसी के तालु पर यह क्रिया करनी होती है उसी के मुंह का नाप लेकर बहुत ही पतली प्लेट बनवा ली जाती है और मुख विवर में लगाने से पूर्व एक विशेष प्रकार

की काली चाक इस पर बिछा दी जाती है। चाक बिछाने का भी एक यन्त्र होता है जिसके द्वारा समरूप की तह सारी प्लेट पर फैल जाती है। यह कृत्रिम तालु लगभग उसी प्रकार का होता है जैसा कृत्रिम दांतों में लगाया जाता है। जब हम किसी ध्वनि का उच्चारण करते हैं तो जिह्वा इस कृत्रिम तालु का स्पर्श करती है अथवा उससे टकराती है और ऐसा करने में प्लेट के ऊपर बिछा चाक पुंछ जाता है। उसके उपरान्त कृत्रिम तालु को साव-धानी से निकाल लिया जाता है और यह सरलता से देखा जा सकता है कि किस स्थान से चाक पुँछ गई है। यही वह स्थान है जहाँ जिह्वा और तालु एक दूसरे से मिले। यह भी देखा जा सकता है कि यह मिलन किस प्रकार का हुआ—स्पर्श, संघर्ष, अर्द्ध-संघर्ष आदि। इस प्रकार पैलेटोग्राफी, बोलते समय, जिह्वा की स्थिति का ज्ञान करा सकती है। तालु के साथ जिह्वा का सम्पर्क देखने के पश्चात् या तो इसका फोटो ले लिया जाता है अथवा इसका एक स्केच बना लिया जाता है। जब मैंने एडिनबरा की ध्वनि-विज्ञान प्रयोगशाला को देखा तो वहां मुझे कृत्रिम तालु के बिना सीधी पैलोटोग्राफी की बात बताई गई। ये लोग कृत्रिम तालु का प्रयोग नहीं करते। बोलने वाले के तालु को ही एक प्रकार के पाउडर से ढक देते हैं और जब जिह्वा अपनी क्रिया करती है तो तालु पर बिछा हुआ पाउडर पुँछ जाता है। इसके उपरान्त एक यन्त्र में लगा शीशे का लम्बा टुकड़ा मुंह के अन्दर डाला जाता है और उस पर जो परछाईं पड़ती है वह एक दूसरे शीशे पर डाली जाती है और इस प्रकार इसका फोटो ले लिया जाता है। इसके आधार पर जिह्वा-स्थान का अध्ययन किया जा सकता है। मैंने वहां दो-तीन पैलेटोग्राफी के यंत्र देखे जिनमें शीशे, प्रकाश और फोटो लेने के कैमरे लगे हुए थे। परन्तु इस यांत्रिक क्रिया की सीमाएँ हैं जिनमें से कुछ यहाँ दी जा रही हैं :—

(१) इस यांत्रिक प्रयोग में समय का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हम इस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि जिह्वा और तालु का संपर्क कितने समय रहा।

(२) एक बार का प्रयोग केवल एक ही गति को बता सकता है। यदि किसी प्रकार से जिह्वा का संपर्क दो बार हो गया तब कुछ भी पता नहीं लग सकता और दोनों पुँछे हुए स्थान एक दूसरे को गड़बड़ कर देंगे।

(३) उच्चारण करने से पहले हमें शब्दों का समुचित चुनाव करना चाहिए। ऐसे शब्द लेने की चेष्टा करनी चाहिए जिनमें जिह्वा का संपर्क केवल एक ही बार हो। हिन्दी के 'बात', 'ताप', 'पाट' इस प्रकार के शब्द लिए जा सकते हैं, किन्तु 'दवात', 'कपाट', 'टाट' इस प्रकार के शब्द नहीं लिए जा सकते क्योंकि इन शब्दों में जिह्वा और तालु का संपर्क एक से अधिक बार होता है। चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखें कि इस प्रकार की स्थिति न आने पाए।

(४) पैलेटोग्राम ध्वनियों के न होकर शब्दों के और कभी-कभी तो वाक्यों के बनते हैं। इससे ध्वनियों का अलग अध्ययन कठिन पड़ता है। यदि कई पुँछावटें न हों तो कई शब्द और वाक्यों के आधार पर भी पैलेटोग्राम बनाया जाता है।

(५) एक कठिनाई और भी है। जब कृत्रिम तालु लगा होता है तो हमारे बोलने में भी एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है। इसी कारण इस बात की चेष्टा की जाती है कि कृत्रिम तालु जितना भी हो सके पतला बने और कुछ लोग तो कृत्रिम तालु में विश्वास न करके वास्तविक तालु द्वारा अध्ययन करना उपयुक्त समझते हैं। कृत्रिम तालु पर काफी काम करने के बाद कुछ सुविधा मालूम हो सकती है—प्रारम्भ में तो अनेक त्रुटियों की सम्भावना रहती है। इस पद्धति से काम करने में बहुत ही सावधानी की आवश्यकता है।

(६) पैलेटोग्राम के अंकन या फोटो लेने से पूर्व निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। आरम्भ के एक-दो प्रयत्न तो, प्रायः, व्यर्थ ही जाते हैं। कभी कभी पुँछावटों का तुलनात्मक अध्ययन करना भी उपयोगी हो सकता है।

(७) जिह्वा का ठीक-ठीक स्थान बताने में पुँछावट के प्रकार का भी ध्यान रखना पड़ेगा और कभी-कभी तो इतने कम अन्तर आते हैं कि यदि अच्छा अभ्यास न हो और किञ्चित भी असावधानी हो जाय तो हमारे वक्तव्य परस्पर विरोधी हो सकते हैं। इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि—

(८) एक स्थिति ऐसी भी आती है जब पैलेटोग्राम सम्भव नहीं होते। उदाहरणार्थ पश्च, द्वियोष्ठ और स्वर ध्वनियों में।

इन सारी बातों को ध्यान में रखकर इस पद्धति से कार्य करना चाहिए।

पिछले कुछ वर्षों में पैलेटोग्राफी की पद्धति में काफी सुधार हुए हैं। इनके बारे में स्कूल ऑव ओरियण्टल एण्ड अफ्रीकीन स्टडीज की प्रयोगशाला के भूतपूर्व यंत्रज्ञ श्री एडम ने मुझे व्यक्तिगत रूप में बतलाया था। एक पैलेटोग्राम-प्रक्षेप का निर्माण किया गया है जिसके द्वारा पैलेटोग्राम आसानी से लिए जा सकते हैं; शीघ्रता और स्पष्टता के साथ उतारे जा सकते हैं और इस प्रकार शब्द तथा शब्द-समुदायों का बहुकालीन अंकन किया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि पैलेटोग्राम के फोटो बिना कैमरा और फिल्म के लिए लिया जा सकें। प्रक्षेप के साथ एक बक्स लगा होता है जिसमें कोनाकार एक टोपी-सी होती है। इसके निचले भाग में एक स्प्रिंग से लगा लकड़ी का टुकड़ा होता है जिससे पैलेट को साधा जाता है। लैन्स के दाएं-बाएं बल्ब और प्रतिक्षेपक इस प्रकार लगे होते हैं कि उनका प्रकाश तालु पर पड़ता है और इसी की आकृति ऊपर लगे प्रक्षेप में पड़ती है। इस प्रकार पैलेटोग्राम तैयार किया जाता है। इसके फोटो लेने की पद्धति वही है जो उतारने की, अन्तर इतना है कि नक़ल करने वाले काग़ज के स्थान पर फोटो वाला काग़ज लगाया जाता है।

पैलेटोग्राफी के आसानी से ले जाने वाले सेट भी होते हैं और एडिनबरा विश्वविद्यालय के ध्वनि-विज्ञान विभाग में उन्हें व्यापारिक स्तर पर तैयार किया जाता है। यह सारी सामग्री एक बक्स में जमा दी जाती है जिसे कोई भी आदमी आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जा सकता है। क्षेत्रीय कार्य के लिए यह एक अच्छी युक्ति है।

इसके उपरान्त कायमोग्राफ है जिसके द्वारा मुख, नासिका और कंठनली की क्रियाओं को उन नलियों के द्वारा अंकित किया जाता है जो एक ओर यंत्र से और दूसरी ओर मुख, नासिका अथवा कंठनली से संबंधित रहती हैं। दूसरी ओर सुई जैसा उपकरण लगा रहता है जो कायमोग्राफ के बेलन पर लगे धूम्रयुक्त कागज पर अंकन करता है। प्रायः एक समय में दो अवयवों के ही अंकन लिए जा सकते हैं। तीनों अवयवों से सम्बन्धित नलियों को विधिवत् प्रयुक्त करना सम्भव नहीं हो पाता। साथ ही एक टाइमर का अंकन भी होता है जिससे मुख, नासिका और कंठनली के अंकनों को नापा जा सकता है। इन रेखांकनों के आधार पर ध्वनियों का

नासिकत्व, घोषत्व, संवृतत्व, मोचनत्व तथा अन्य बातें जैसे महाप्राणत्व, सादृश्य, समय आदि जाने जा सकते हैं किन्तु लहर-लम्बाइयों की क्षिप्रता (frequency) मूलतत्त्वों (fundamentals) के अंतर, घटक-स्वर (Component pitch) आदि का ज्ञान नहीं हो पाता। जब इस मशीन का प्रथम आविष्कार हुआ था तो मुख तथा नासिका दो के ही अंकन किए जाते थे। कंठनली का अंकन अपेक्षाकृत नव युक्ति है। कुछ सुधार करने पर इस यन्त्र को युद्धक्षेत्र में भी उपयोगी बताया गया, विशेषतः जब युद्ध आदि के अवसर पर फेंकने वाले जहाज़ों में ध्वनि-सन्देश भेजने की युक्ति निकाली गई। जब मैं विदेश गया तो मैंनें अनेक प्रयोगशालाओं में यह मशीन देखी। यहां भी पूना और हैदराबाद की मशीनों पर मैंने काम किया। अभ्यास की बहुत आवश्यकता है। समुचित अभ्यास हो जाने पर इन मशीनों के द्वारा निश्चित परिणाम निकाले जा सकते हैं। रेखांकन लेने का कार्य काफी आसान है किन्तु इन रेखाओं का अध्ययन करना काफी मेहनत का काम है, क्योंकि इन रेखाओं की लहर और उनकी क्षिप्रताओं को नापना और उनके आधार पर परिणाम निकलना ऊँचे दर्जे के गणित-ज्ञान और लम्बे अभ्यास की अपेक्षा करता है। यदि हमें लम्बा काग़ज लगाना हो तब भी इस मशीन में लगाया जा सकता है क्योंकि मशीन के बेलन को नीचे गिर्री लगाकर एक किया जा सकता है और फिर धूम्रयुक्त लम्बा काग़ज लगाया जा सकता है। समय-सूचक आवश्यक होता है। क्षिप्रता नीचे लिखे गुरु से निकाली जाती है।

$$\frac{\text{समय सूचक का एक चक्र}}{\text{एक लहर}} \times १०० = \text{क्षिप्रता}$$

इस यन्त्र की सहायता से—

१ नासिकत्व, २ महाप्राणत्व,

३ स्वरों का समय, ४ ध्वनियों का घोषत्व

आदि मालूम किए जा सकते हैं। पर इस यन्त्र की भी अपनी सीमाएँ हैं। उदाहरण के लिए—

(१) इसके द्वारा उन्हीं ध्वनियों का पता लग सकता है जिनके अंकन में कुछ विचित्रता होती है। सीधे अंकन द्वारा कुछ भी पता नहीं लगता।

(२) मुँह तथा नाक पर रखे गए नलिका-चक्रों पर कितना दबाव डाला जाय इस बारे में बहुत सजग रहने की आवश्यकता है।

जब मैंने प्रथम बार स्वयं काम करना शुरू किया तो विचित्र अंकन दिखाई देने लगे, न केवल एक-सी ध्वनियों के रेखांकनों में अन्तर था वरन् कहीं-कहीं अंकन भी नहीं हो पाया था। अनेक बार प्रयत्न करने पर साधारण रूप से सामान्य रेखांकन हो सका। धुँएवाले कागज पर ढंग से रेखांकन करना निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता रखता है।

(३) बन्द नलिकाचक्र पर ध्वनि-उच्चारण निश्चय ही एक दूसरी कठिनाई है। नलिका के इस भाग को नाक और मुख के काफी निकट-बल्कि सटाकर-- रखना पड़ता है। यदि अधिक सटा देते हैं तो ध्वनि ही नहीं निकलती, अधिक दूर करने पर अंकन नहीं हो पाता। अतः मुख और नली के बीच कितनी दूरी या निकटता रहे यह अभ्यास करने पर ही सीखा जा सकता है। जब तक नली का प्रयोग करते समय हम स्वाभाविक रूप में ध्वनियाँ नहीं निकालते तब तक अच्छे परिणाम निकालने की आशा नहीं की जा सकती।

(४) हमें इस बात की भी चेष्टा करनी चाहिए कि प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न न हो जायँ। जिन रेखांकनों की तुलना करनी है वे एक ही दिन और समय पर सम परिस्थितियों के बीच समान दबाव द्वारा लिए जायँ। कुछ भी नहीं बदलना चाहिए। यदि इनमें से किसी बात में अंतर आ गया तो हमारा परिणाम कुछ का कुछ निकल सकता है।

(५) मशीन और उसके विभिन्न अंगों में भी एक क्षिप्रता होती है-- इसका पूरा विचार रखना चाहिए।

(६) यन्त्र के बेलन की गति पर भी ध्यान देना उचित है। यह देखना चाहिए कि यह समान गति से पूरे चक्र लगा रहा है—न बीच में रुकता है और न अपनी आवर्तन गति बदलता है। काम करते समय इसकी गति पूर्णरूपेण समान रहनी चाहिए।

(७) बेलन पर लगा काग़ज छोटे कथनों की ही ध्वनि-रेखाएँ दे सकता है—बड़े कथनों के लिए बहुत-कुछ उलट-फेर करना पड़ता है और प्रायः सम्भव नहीं हो पाता।

(८) कण्ठनली की रेखाएँ उतारना बहुत कठिन होता है अतः इस क्रिया को सीधे न कर बिजली की सहायता से ध्वनि-विस्तारक (Microphone) के द्वारा किया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो लहरें इतनी छोटी होंगी कि उनके सम्बन्ध में कोई परिणाम बताने सम्भव नहीं होंगे।

कायमोग्राफ में भी कुछ सुधार हुए हैं। आजकल कायमोग्राफ की जो पद्धति प्रचलित है उसके अनुसार सफेद पर काली रेखाएँ उतारने की ओर अधिक ध्यान है जिससे रेखाएँ अधिक स्पष्ट आ सकें। इस क्रिया में काग़ज को धूएँ से काला करने की आवश्यकता नहीं रह जाती—काग़ज को धूएँ से काला करना एक बहुत ही ऊबा देने वाला काम है। अब यह भी आवश्यक नहीं रहा कि धूएँ से काले हुए पेपर को वार्निश में डाला जाय। उँचाई की ओर एक पूरी प्लेट का कैमरा लगाया जाता है जिससे आवश्यक प्रकाश पड़ सके। एक प्रकार से यह कैमरा फोटो को बड़ा करने की युक्ति है और कैमरे की उँचाई को कम-वेश करने से इच्छानुसार छोटे-बड़े प्रतिरूप प्राप्त हो सकते हैं। केवल पेच से फोकस करना पड़ता है।

कायमोग्राफ के बेलन को पहले धुएँ से काले किए हुए काग़ज से लपेटते थे अब साधारण चिकना सफेद काग़ज काम में लाया जाता है। इस सफेद काग़ज पर मोटा सैलोफेन काग़ज चढ़ा दिया जाता है जिसे आवश्यक लम्बाई के अनुसार पहले ही काट लेना चाहिए। इस सैलोफेन को हलका-सा काला कर देते हैं। अंकन सामान्य क्रिया के अनुसार किया जाता है। एक पैने चाकू या ब्लेड की सहायता से रेखाङ्कन का आवश्यक भाग काट कर और धुवाँ वाले हिस्से को ऊपर रख कर स्लाइड होल्डर में रख दिया जाता है। लैम्प को प्रकाशित कर दिया जाता है और रेखांकन पर प्रकाश डाला जाता है जो कि एक प्रकार से फोटो का निगेटिव है। इसके पश्चात् रेखांकन को समुचित ढाँचे में प्रक्षिप्त किया जाता है। सफाई लाने के लिए फोकस ठीक किया जाता है। तब फोटो वाला काग़ज एक स्थान पर रख कर समुचित समय तक खुला छोड़ दिया जाता है। उसके पश्चात् जैसे सामान्य फोटो बनाते हैं उसी प्रकार इसका भी चित्र बन जाता है। इस क्रिया से सफेद काग़ज पर काली रेखाएँ आएँगी। मैंने व्यक्तिगत रूप से यह क्रिया करने की चेष्टा की

पर मुझे तो काले कागज पर सफेद रेखाएँ उतारना ही आसान लगा। सौल्यूशन में डालने के बाद तो वह पक्का हो ही जाता है।

सामान्य उपयोग के लिए कायमोग्राफी की पुरानी पद्धति ही चलती है और वारनिश करने के उपरान्त उसके फोटो लिए जा सकते हैं। आजकल इस पद्धति को निम्न कोटि का समझा जाता है क्योंकि स्पेक्टोग्राफ के अन्वेषण से पुरानी पद्धतियाँ फीकी पड़ गई हैं, परन्तु मोटे ढँग से समझने लिए कायमोग्राफ का प्रयोग ठीक रहता है। जिन ध्वनियों में हम नासिकत्व, महाप्राणत्व आदि मानते हैं उनकी पुष्टि यदि कायमोग्राफ की रेखाओं से भी हो जाय तो बहुत सन्तोष होता है। अनुभवीय और यांत्रिक युक्तियों द्वारा प्राप्त दोनों परिणाम जब मिल जाते हैं तो कार्यकर्ता को अपने कथनों का निश्चय हो जाता है। मैंने कुछ प्रमुख ध्वनिशास्त्रियों से इस सम्बन्ध में पूछा तो उनका यही कहना था कि मशीनों द्वारा प्राप्त परिणामों की अपेक्षा हम अपने अनुभवीय परिणामों को प्रधानता देते हैं—क्योंकि मशीनों की अपनी सीमाएँ होती हैं और उनके लिए आदर्श स्थितियाँ कभी नहीं लाई जा सकतीं। अनेक बार मुझे यही कहा गया कि यान्त्रिक परिणामों का उपयोग अनुभवीय दृष्टिकोण की पुष्टि-हेतु ही किया जाना चाहिए।

ध्वनि-प्रयोगशालाओं में टेप रेकार्डर का भी प्रयोग होता है। मैंने जितनी प्रयोगशालाएँ देखी उनमें प्रायः सभी में टेप रेकार्डर देखे; साथ ही टेपों की पंक्तियाँ भी देखीं जो कुछ भरी हुई थीं और कुछ खाली। जिस स्थान पर ध्वनि भरी जाती है उसी स्थान पर उसका विश्लेषण सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि पर्याप्त यन्त्रों का अभाव होता है अतः ध्वनि-विशेषज्ञ बैटरी वाली मशीन पर ध्वनि भर लेते हैं और उसके उपरांत अपनी प्रयोगशाला में आकर बड़ी मशीन की सहायता से ध्वनियों को विश्लेषित करने की चेष्टा करते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में बैटरी वाला छोटा रेकार्डर अधिक उपयोगी होता है क्योंकि यह लाने-ले जाने में कठिनाई उपस्थित नहीं करता और इस बात की भी आवश्यकता नहीं होती कि किसी स्थान में बिजली है अथवा नहीं। अनुभव के आधार पर यह अवश्य देखा गया है कि रेकार्ड किये गये टेपों को बड़ी मशीन पर सुनना अधिक उपयोगी और विश्लेषण में अधिक सहायक होता है क्योंकि बड़ी मशीन पर चलाए जाने से आवाज़ अधिक स्पष्ट सुनाई देती है। क्षेत्रीय

कार्यकर्त्ता इसीलिए छोटी-बड़ी दोनों प्रकार की मशीनों का प्रयोग करते हैं। क्षेत्र में छोटी मशीन और प्रयोगशाला में बड़ी मशीन अधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं। फिलिप कम्पनी ने अभी एक ऐसा छोटा टेप रेकार्डर निकाला है जो बैटरी तथा बिजली दोनों से चलता है और जिस पर ध्वनियाँ लेना और उन्हें सुनना बहुत स्पष्ट और सुविधाजनक होता है। इसके टेप विशेष प्रकार के होते हैं, ये एक छोटे-से डिब्बे में बन्द होते हैं और आसानी से मशीन पर चढ़ाए जा सकते हैं। मेरे एक जर्मन मित्र ने अभी इसी वर्ष यह टेप रेकार्डर जर्मनी से लाकर दिया है—इस पर किए गए काम के परिणाम अच्छे निकल रहे हैं। इन यन्त्रों में एक कठिनाई सामने आती है—भरे हुए इन रेकार्डों को मशीनों पर चलाने से लगातार ध्वनियाँ आती रहती हैं और यदि हम इस ध्वनि-समुच्चय के किसी एक विशेष अंग पर अधिक कार्य करना चाहें या सामान्य कार्य करने के लिए भी उस ध्वनि को बार-बार सुनना चाहें तो सम्भव नहीं होता। टेप को घुमाने पर भी यही होता है कि जिस अंश को हम सुनना चाहते हैं वह पकड़ में नहीं आता। यदि किसी प्रकार पकड़ में आ भी गया तो जब तक हम सावधान हों तब तक वह ध्वनि होकर टेप आगे बढ़ जाता है और हम उसी स्थिति में रह जाते हैं। क्षेत्रीय कार्यकर्ता को तो यह कठिनाई सूचक में भी आती है। कई-कई बार बोलने पर भी ध्वनि पकड़ नहीं पाते या उसका एक अंश पकड़ने में अन्य अङ्गों को भुला देते हैं। अतः उसको अनेक अवसरों पर अन्धकार में काम करना पड़ता है। इस कमी को दूर करने के लिए एक नई पद्धति निकाली गई है जिससे जिस भाग को आप बार-बार सुनना चाहते हैं वह बार-बार सुनाई देगा और तब तक सुनाई देता रहेगा जब तक आप चाहते हैं। जब आप अपना काम पूरा कर लेंगे तब एक बटन दबाने पर ही टेप आगे बढ़ेगा। इस मशीन का नाम 'मल्टी रिपीटर' है। इस मशीन के द्वारा कोई ध्वनि, शब्द, वाक्य, पैराग्राफ इच्छानुसार बार-बार दुहराए जा सकते हैं। इसके द्वारा टेप रेकार्डर द्वारा भरी गई ध्वनियों का विश्लेषण करना बहुत आसान हो गया है। विश्लेषण के अतिरिक्त इस पद्धति से किसी भाषा-विशेष की ध्वनियों को सीखने में भी सहायता मिलती है। प्रयोग की दृष्टि से यह मशीन काफी सीधी है और भाषा वैज्ञानिक कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी इसका उपयोग किया जा

सकता है जैसे गायनों, मनोरंजक भाषणों, सार्वजनिक वक्तव्यों का टेप पर भरा जाना। किन्तु टेप रेकार्डर का भी ध्यान रखना पड़ता है और आस-पास के वातावरण तथा मौसम आदि की ओर भी सजग रहना पड़ता है।

एक्स-रे द्वारा ली गई तसवीरें भी बहुत उपयोगी होती हैं। इस शताब्दी के प्रथम भाग में एक्स-रे के चित्रों पर प्रयोग आरम्भ हो गए थे, इनके साथ ध्वनि-मार्ग भी जुड़ा रहता था। इनके द्वारा उच्चारण अवयवों का परिचालन दिखाया जा सकता था उसमें इतनी सफाई और स्पष्टता पाई जा सकती थी जितनी अभी तक सम्भव नहीं हो सकी था। इस स्थान पर मैं ध्वनि-सम्बन्धी कुछ फिल्मों की चर्चा करना चाहता हूँ। लन्दन विश्वविद्यालय कालेज में ध्वनि-विज्ञान के अध्यक्ष डॉ० फ्राई, जो अखिल विश्वध्वनि-विज्ञान सम्मेलन के वर्तमान अध्यक्ष भी हैं, ने इस प्रकार के कुछ सवाक् चित्र दिखलाए और उच्चारण की विभिन्न बातों को स्वयं स्पष्ट किया। ध्वनियों के उच्चारण-स्थान, जिह्वा की गति उसके स्पर्श आदि, जिह्वा का ऊँचा, नीचा, टेढ़ा, बेलनदार होना आदि इन चित्रों से अच्छी तरह समझ में आए। एक चित्र में डॉ० फ्राई ने एक ऐसे व्यक्ति के माध्यम से ध्वनियों को बुलावाकर समझाया जिसका दाहिना गाल कटा हुआ था। जब वह ध्वनि-उच्चारण में अपनी जिह्वा चलाता था तो हम लोग आसानी से उस कटे गाल में से जिह्वा की गति देख सकते थे। डॉ० फ्राई ने बताया कि अनेक प्रयत्नों के बाद उन्हें इस प्रकार का व्यक्ति मिल सका—यह एक सिपाही था जिसका दाहिना गाल युद्ध में लगे एक घाव के कारण आपरेशन में काट दिया गया था। हम लोगों ने उस कटे हुए भाग से जिह्वा, दांत तथा जिह्वा से तालु का संपर्क आसानी से देखे। इस फिल्म में यह व्यक्ति ध्वनियों का उच्चारण दो बार करता था। इसी प्रकार से दूसरी फिल्म बनाई गई थी। कटे हुए गाल वाले व्यक्ति को देखना अवश्य भयानक और बीभत्स का मिश्रण था, और कुछ महिलाएँ तो उस दृश्य को प्रथम बार देखते ही चीखने-सी लगीं किन्तु इस प्रकार से ध्वनि करते समय उच्चारण के अवयवों को देखना संभवतः अन्य किसी युक्ति से संभव न होता। इसी अवसर पर एक अन्य चित्र भी था जिसमें स्वरतंत्रियों की गति एक्स-रे फोटोग्राफी द्वारा दिखाई गई थी। ये स्वरतंत्रियाँ किस प्रकार बन्द होती हैं और खुलती हैं; कब तेज़ चलती हैं, और कब धीमी-ये बातें आसानी से देखी जा सकती थीं—उधर ध्वनि निकलती थी और उसके

साथ ही साथ चित्र में स्वरतंत्रियों की क्रिया होती थी। बड़ी स्पष्टता के साथ सारी बातें समझ में आ जाती थीं। इस प्रकार की युक्तियां अनेक सूक्ष्म और अस्पष्ट विचार तथा क्रियाओं के समझाने में बहुत सहायक होती हैं।

ओसिलोग्राफ में एक गतिशील प्रकाश-बिन्दु होता है। बिजली के द्वारा किए गए ध्वनि-संकेतों को यह अंकित करता है। जैसे कायमोग्राफ पर रेखाएँ खिंचती हैं उसी प्रकार यह प्रकाश-बिन्दु भी रेखा खींचता चलता है जैसे कायमोग्राफ की रेखाओं से निष्कर्ष निकालते हैं उसी प्रकार प्रकाश-रेखाओं के आधार पर भी परिणाम निकाले जा सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि कायमोग्राफ की अपेक्षा यह यंत्र बहुत चक्करदार है और इस पर काम करना भी अभ्यास और यंत्र के परिचय की अपेक्षा करता है तथा परिणाम निकालने में भी अधिक परिश्रम करना पड़ता है। कभी-कभी एक ही परिणाम के निकालने में कई सप्ताह लग जाते हैं—परन्तु जब परिणाम निकलते हैं तो बहुत ही निश्चित रूप के प्रतीत होते हैं। कैथोडे रेट्यूब के पूर्ण करने से इस मशीन का अन्वेषण संभव हो सका। इसमें ध्वनिग्राम की क्षिप्रतायें अंकित हो जाती हैं, किन्तु इस पर ली गई तसवीर अस्थायी होती है और जैसे ही बिजली का करेण्ट बन्द कर दिया जाता है इसमें परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस यंत्र के द्वारा शत्रु के गोपनीय संदेश भी तोड़े जा सकते हैं।

स्पैक्टोग्राफ के देखने और उस पर काम करने से पता लगा कि इसे प्रत्यक्ष ध्वनि-अंकन यंत्र कहा जा सकता है। यह इस प्रकार बनाया गया है कि इसके द्वारा अच्छा अध्ययन किया जा सके। कुछ लोगों का तो ऐसा अनुमान है कि इस यंत्र के अन्वेषण ने अन्य यंत्र पीछे धकेल दिये हैं। इस यंत्र ने वाक् ध्वनियों के श्रवण संबंधी ज्ञान को बहुत गहराई प्रदान की है। यह ध्वनि का एक स्थायी चित्र देता है। ध्वनि की संश्लिष्ट ऊर्मियों का अध्ययन स्वतः उपस्थित कर देता है और ध्वनियों का वह रूप आँखों के सामने रखता है जैसा कान के द्वारा सुना जाता है। एक बहरा आदमी भी वह देख सकता है कि क्या कहा गया है, क्योंकि यह मशीन श्रव्यपदार्थों को दृश्य रूप में उपस्थित करती है। अमेरिका के विविध विद्यालयों में इस यंत्र का प्रयोग किया जाता है। यूरोप के अनेक स्थानों पर भी यह मशीन है और भारत में भी एक-दो स्थानों पर है। परन्तु यहाँ इसका उपयोग

अभी कम ही हो पाया है। २-४ सेकेंड के कथन को यह ५ मिनटों में विश्लेषित कर देती है-ऐसी ध्वनियों को जिनकी क्षिप्रता शून्य से ८००० चक्र प्रति सेकेण्ड होती हो। मैंने इस यंत्र पर एडिनबरा विश्वविद्यालय में कुछ काम किया। लिए गए अंकनों में से एक संलग्न है। यह भी सम्भव है कि ऐसा स्पैक्टोग्राफ बन सके जिसके द्वारा २-४ सेकेण्ड से अधिक समय के कथनों का भी अविलम्ब विश्लेषण किया जा सके। यह मशीन बहुत मूल्य की होगी और अभी तक प्रयोगशालाओं में इसकी आवश्यकता नहीं बताई जाती। नमूने का जो स्पैक्टोग्राफ-अंकन यहां संलग्न है उसमें लम्ब रूप प्रति सेकेण्ड क्षिप्रताएँ हैं और सीधी ओर मिली सेकण्ड्स हैं। श्यामत्व का अन्तर सघनता में परिवर्तन के अन्तर को स्पष्ट करता है।

इस स्थान पर एडिनबरा के कृत्रिम वाक्-यन्त्र का किंचित वर्णन किया जाना भी उचित प्रतीत होता है। इस मशीन को वहां 'पैट' कहते हैं। इस मशीन के बनवाने का संपूर्ण व्यय ब्रिटेन के सप्लाई मंत्रालय ने उठाया था और इन दिनों यह मशीन एडिनबरा के ध्वनि-विज्ञान विभाग की प्रयोगशाला में लगी हुई है। सप्लाई मंत्रालय में संप्रेषण-अभियन्ता लॉरेन्स ने इस यन्त्र को बनाया था और आजकल इसका उपयोग भाषा-विज्ञानी, मनोविज्ञानी, संप्रेषण-अभियन्ता आदि सभी करते हैं। इस यंत्र के द्वारा मानवी उच्चारण यन्त्र के ६ कार्य एक साथ होते हैं। अधिक पारिभाषिक शब्दावलि में न जाकर कह सकते हैं कि इसके ६ कार्यों में स्थायी सुर, फुसफुसाहट का वेग, ध्वनि उच्चारण की उँचाई तथा स्वर के तीनों सुर सम्मिलित हैं। कोई भी कथन जिसका संश्लेषण करना है पहले श्रव्य रूप में विश्लेषित कर लिया जाता है और इन विश्लिष्ट फलों के आधार पर संश्लिष्ट रूप उपस्थित होता है। इसमें संश्लेषण का क्रम इस प्रकार है—

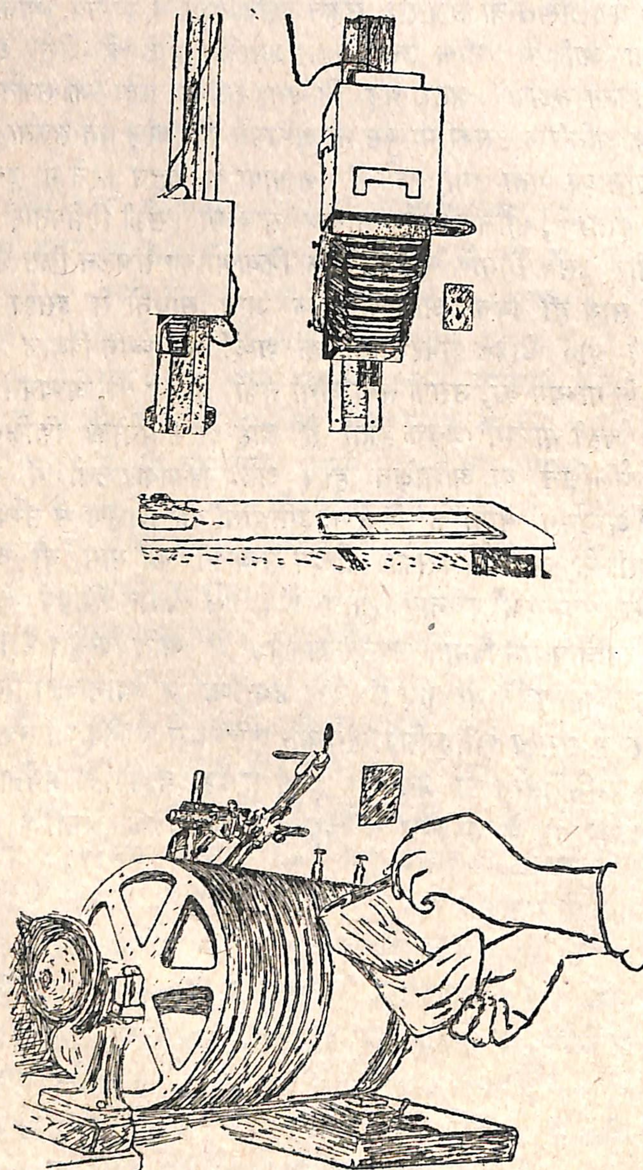
मौलिक कथन——> श्रव्य विश्लेषण——> योगात्मक नमूने——>
नियंत्रित वाल्टेज——> संश्लिष्ट कथन।

१९५७ में जब ओसलो में अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-विज्ञान सम्मेलन हुआ था तब यह मशीन वहाँ भेजी गई थी और भाषा-विदों ने इसमें काफी रुचि ली थी। अध्यापन में भी यह मशीन बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। इस मशीन को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत मूल्यवान समझा जाता है, विशेषकर श्रावकी ध्वनि-विज्ञान के लिए। पूरी तरह से देखने पर पता

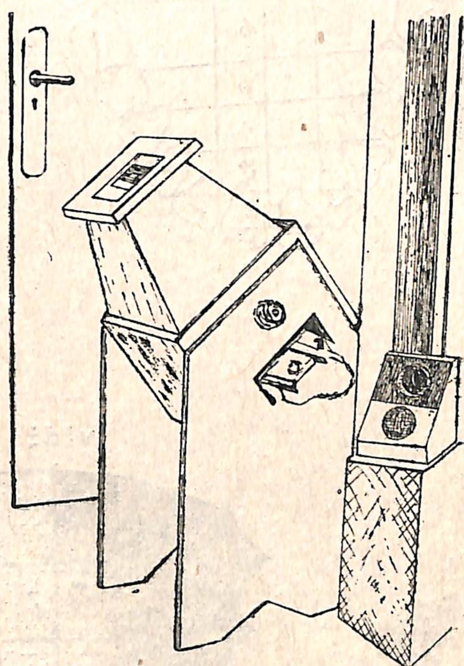
लगता है कि यह मशीन मानवी ध्वनि-यन्त्र से मिलती-जुलती है इसीलिये इसे कृत्रिम उच्चारक कहा जाता है। इस मशीन के आधार पर बहुत-से प्रयोग किये जा सकते हैं क्योंकि मानवी ध्वनि की अपेक्षा इस कृत्रिम उच्चारक पर अधिक नियन्त्रण किया जा सकता है। इस मशीन में एन्थोनी नाम के एक प्रयोगशाला विशेषज्ञ ने और भी सुधार किए हैं। वास्तविकता तो यह है कि अभियन्ताओं के आदेशानुसार बनाने का कार्य इसी विशेषज्ञ के द्वारा पूरा हुआ था।

ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन में प्रयोगशालीय पद्धति पर दो-एक बातें कह देना अप्रासङ्गिक न होगा। यह ठीक है कि सामान्यतः जैसा लोग कहते हैं—ध्वनि-विज्ञान, भाषा-विज्ञान का एक विभाग है किन्तु यह विषय अनेक अवसरों पर ऐसी बातों से सम्बन्धित हो जाता है जो भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत नहीं आतीं यद्यपि इनका आगमन मानवी उच्चारणों से ही होता है। इस बात को आसानी के साथ समझने के लिये कहा जा सकता है कि जो अन्तर भाषा और उसके माध्यम में है वही अन्तर भाषा-विज्ञान और ध्वनि-विज्ञान में है। यदि हम हिन्दी में लिखी किसी उक्ति को देखें तो पता लगेगा कि लिखित रूप और वास्तविक वस्तुओं में कोई समानता नहीं है। लिखित शब्द एक सफेद धरातल में अङ्कित काले अथवा नीले कुछ चिह्न हैं जिनके द्वारा अनेक प्रकार के सङ्केत 'स्थान' में बनाये जाते हैं, जब कि ध्वनियाँ जो एक के बाद एक निकलती हैं वे 'समय' में अपने सङ्केत अङ्कित करती हैं। परन्तु इतना भेद होने पर भी दोनों प्रकार के अंकन निश्चय रूप से हिन्दी ही हैं। वे एक ही भाषा के दो रूप हैं जिनका उद्देश्य शरीर के अलग-अलग अवयवों को सम्बोधित करना है और यह इसलिये सम्भव है कि भाषा इन नमूनों में रहती है न कि लिखित अथवा उच्चरित आकृतियों में। भाषा और उसके माध्यम का अन्तर बताते समय हम उसकी ऐन्द्रियिक आकृति का उसके भौतिक स्वरूप से अन्तर बताते हैं। अतः माध्यम को भाषा नहीं कहा जा सकता, इसे भाषा का वाहक कह सकते हैं जिसकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं। लिखा हुआ शब्द, शब्द होने के अतिरिक्त किसी भी आकृति के समान एक आकृति है और इसी प्रकार कथित शब्द, शब्द के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की अन्य ध्वनि के समान ध्वनि है। इसके उपरान्त लिखित अथवा कथित शब्द मानवी क्रियमाणता की उपज

हैं जिसके ऊपर उस क्रिया की छाप लगी होती है जो उसे उत्पन्न करता है। अधिक स्पष्ट रूप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि लिखा हुआ शब्द एक अङ्कित संकेत है और बोला हुआ शब्द एक श्रव्य संकेत है, और इसी कारण ये लिखित या उच्चरित संकेत व्यक्तिविशेष में स्वभाव, व्यक्तित्व, सामाजिकता आदि से ठीक उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जैसे अन्य सामाजिक क्रिया-कलाप। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाषा के अतिरिक्त उसका माध्यम भी अध्ययन की वस्तु बन सकता है। हम इस बात का पता लगा सकते हैं कि भाषा के वहन करने में इसकी क्या क्रिया होती है, भौतिक और सौन्दर्य सम्बन्धी इसकी विशेषताएँ क्या होती हैं और इसके निर्माण में शारीरिक क्रियाओं का संचलन किस प्रकार होता है, साथ ही विचार-अभिव्यक्ति के अन्य साधनों से इसका क्या सम्बन्ध है। प्रो० डेविड अबरकोम्बी के शब्दों में 'ध्वनि-विज्ञान उच्चरित भाषा के माध्यम का, उसके सभी अंगों तथा प्रकारों का, अध्ययन है'। सामान्यतः यही माध्यम प्रयुक्त होता है चाहे इसके प्रयोक्ता शिक्षित हों अथवा अर्द्धशिक्षित या अशिक्षित हों। अतः विश्वविद्यालयों में ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन भाषा के विवरण, इतिहास और शिक्षण से सम्बन्धित होगा। इसी के अन्तर्गत इसका सौन्दर्य सम्बन्धी वह भाग भी आएगा जिसके द्वारा पद्यात्मक रचनाएँ होती हैं। इस प्रकार विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित ध्वनिविज्ञान-विभाग अपने कार्यक्षेत्र में अति विस्तृत है। इसके क्षेत्रों में कुछ विभाजन भी हुए हैं जैसे इंगलैण्ड में ध्वनिविज्ञानीय समस्याएँ, फ्रांस में उसका ऐतिहासिक अंग और एडिनबरा में विवरणात्मक भाषा-विज्ञान में ध्वनिविज्ञान का प्रयोग। इसमें सन्देह नहीं कि प्रयोगशालीय पद्धति भाषा-विज्ञान के अध्ययन में बहुत उपयोगी सिद्ध होती है।

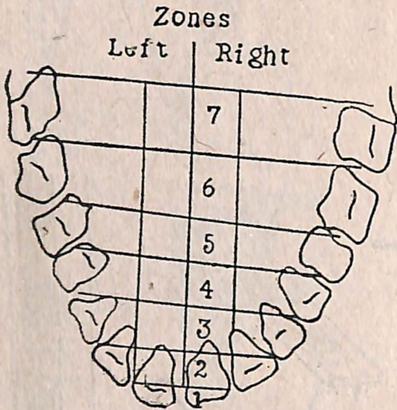


Kymography with Cellophane.



Palatogram Projector.

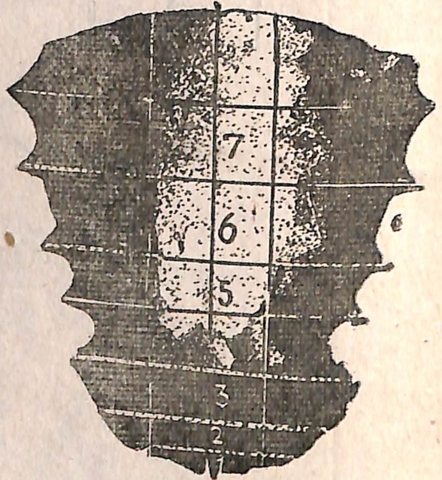
Palatogram



very



vidi



A: *Duplex oscillogram*

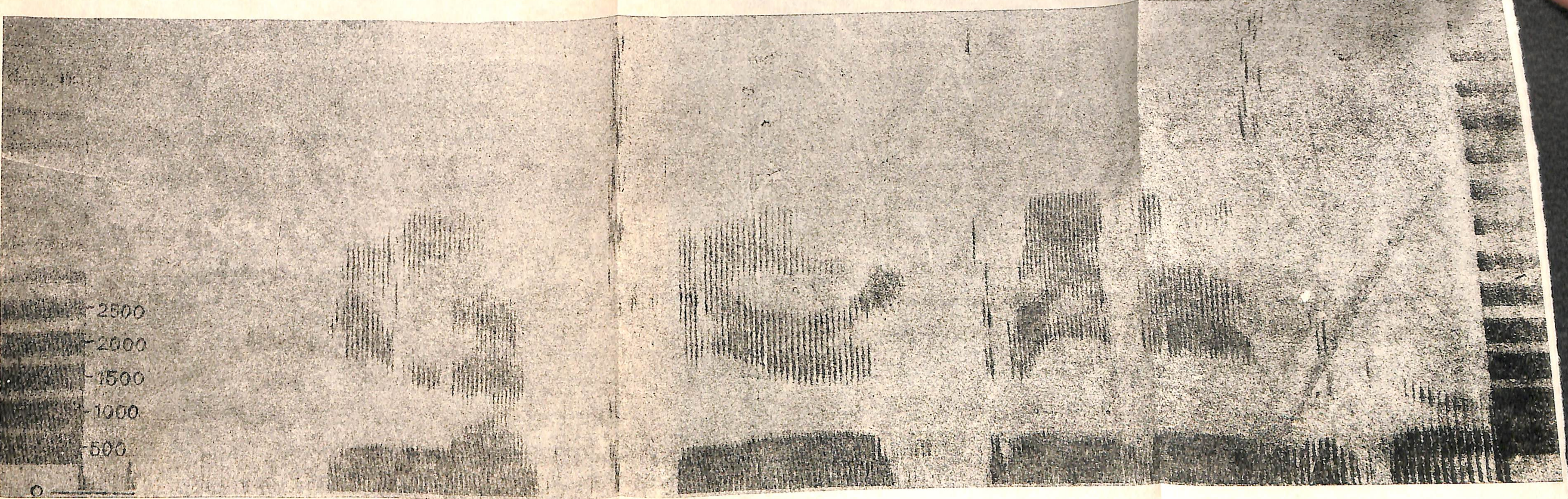
B: *Intensity 1*

C: *Intensity 2*

D: *Fundamental frequency*

Moti Lal (Indian)

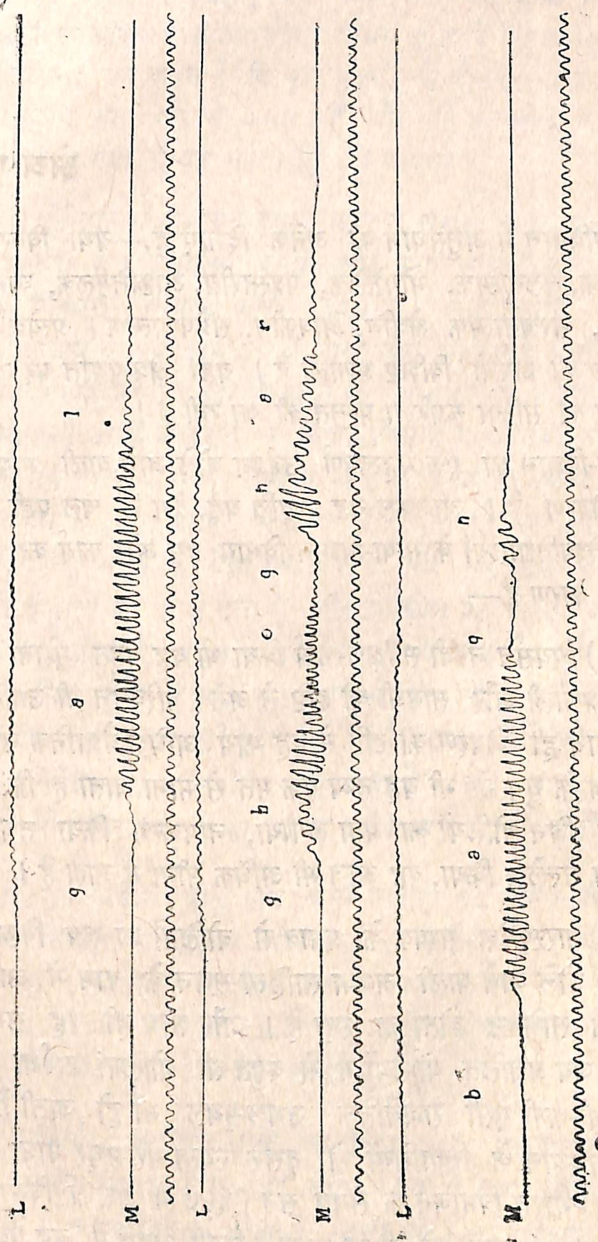
Spectogram (Sonograph)



← 2 4 Secs. → h e l e f t h e re three d a y s a g o 0—8000 Cycles per Sec.

HELE FTHEER THREDAYSAGO




Kymograms
L
M
L
M
L
M

४

क्षेत्र-पद्धति

भाषाविज्ञान में अनुसंधान की अनेक दिशाएँ हैं,—यथा विवरणात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, भौगोलिक, पदस्तरीय, आकृतिमूलक, ध्वन्यात्मक, अर्थमूलक, संरचनात्मक क्षेत्रीय, श्रावकीय, संप्रेषणात्मक। प्रत्येक स्तर के अनुसंधान की अपनी विशिष्ट प्रणाली है। यहां क्षेत्र-पद्धति पर आधारित अनुसंधान की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

भाषा-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य बोले जाने वाली भाषाओं का सम्यक् विवरण है। आजकल यह प्रवृत्ति बड़े वेग से चल पड़ी है और विभिन्न विश्वविद्यालयों के भाषा-विज्ञान विभाग इस ओर कार्य कर रहे हैं। इसके कई कारण हैं—

(१) ग्रियर्सन ने जो सर्वेक्षण-कार्य किया था वह बहुत पुराना हो गया है, उसमें प्रणाली और सामग्री की दृष्टि से अनेक परिवर्तन भी उपस्थित हो गये हैं, साथ ही विवरण की दृष्टि से वह कार्य अधिक वैज्ञानिक नहीं था। परन्तु आज के युग में भी यह तथ्य एक मत से माना जाता है कि ग्रियर्सन महोदय ने जिन बोलियों का पता लगाया, नामकरण किया तथा क्षेत्रीय विस्तार का उल्लेख किया, वह आज भी अधिक सीमा में ग्राह्य है।

(२) पारस्परिक सम्पर्क के प्रभाव से बोलियों का रूप विकृत होकर बड़े क्षेत्र में बोले जाने वाली अथवा साहित्य-सृजन के काम में आने वाली भाषाओं के सन्निकट होता जा रहा है। और शीघ्र ही वह समय आ सकता है जब प्रचलित बोलियों में से बहुत-सी बोलियां सर्वथा लुप्त हो जायँ। कभी-कभी ऐसी राजनैतिक उथल-पुथल भी हो जाती है जिसके कारण एक स्थान के निवासियों को दूसरे स्थान पर प्रचुर मात्रा में जाना पड़ता है। भारत-विभाजन के समय सन् १९४७ में इसका विस्तृत, साथ ही भीषण, रूप देखने को मिला था और किसी मात्रा में यह प्रवृत्ति अब भी चल रही है। उदाहरण के लिए राजस्थान तथा सिंध की सीमाओं

पर बोले जाने वाली थळी बोली को लीजिये। यह थार क्षेत्र की भाषा है और बहुत ही मजेदार है। परन्तु सिंध से जो निष्क्रमण हुआ उसके फलस्वरूप थळी का अस्तित्व समाप्त होता प्रतीत होता है। एक सिंधी-भाषा-विज्ञानी का तो यह कथन है कि कुछ बुजुर्गों को छोड़कर बाकी लोग इस बोली का रूप प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं, और यदि इस बोली का विवरण प्रस्तुत न किया गया तो यह सर्वथा लुप्त हो जाएगी।

(३) बोलियों का अध्ययन हमारी सभ्यता, संस्कृति तथा इतिहास पर प्रकाश डालता है। इसीलिए बोली-विज्ञान तथा भाषा-विज्ञान से अनेक विषयों का निकटतम सम्बन्ध माना जाता है। जाति-विज्ञान, न्टविज्ञान आदि विषय अब भाषा-विज्ञान की ही शाखा जैसे बन गए हैं। भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी भाषा, समाज और संस्कृति का अध्ययन भी करता है, तथा भाषा-भूगोल भी उसके अध्ययन का विषय होता है। बोलियों का विवरण देश के विभिन्न भागों को निकट लाने में भी सफल सिद्ध हो सकता है। आज तो भाषा-क्षेत्रों की बात बराबर सुनी जाती है, भाषाई राज्य भी देश के सामने हैं, परन्तु भाषा का वैज्ञानिक विवरण और विश्लेषण विभाजन की इन छोटी दीवालों को गिरा देता है और दृष्टिकोण को विस्तृत करता है। साथ ही किसी बोली के प्रदेश में संस्कृति का क्या रूप रहा और वह किस प्रकार विकसित हुआ इसको स्पष्ट करने में भी सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए हिमांचल प्रदेश के किनौर नामक जिले की भाषा को लीजिए। इसे ग्रियर्सन ने किनौरी भाषा कहा है। इस भाषा, इस प्रान्त और इसके भौगोलिक विवरण को देखकर अनेक बातें सामने आती हैं—

(अ) भारतवर्ष में बोले जाने वाली भाषाएँ कई भाषा-परिवारों की हैं जिनमें तिब्बतभाषा-परिवार भी एक है। किनौरी भाषा की आकृति का कुछ अंश इस परिवार से मेल खाता है, परन्तु उसका ढांचा भारोपीय परिवार का ही है—उपसर्ग, प्रत्यय का प्रयोग, एकवचन, बहुवचन में रूपान्तर, लिंग-भेद आदि इसी ओर संकेत करते हैं।

(ब) किनौर, किनौरी आदि शब्दों का संबंध किन्नर से स्थापित करने में सुख-सा मिलता है। कहा जाता है गंधर्व तथा किन्नर अर्द्ध देव जातियां थीं। ये हिमांचल प्रदेश में रहती थीं (यह 'हिमांचल' आज के राजनैतिक हिमांचल प्रदेश से भिन्न है)। किन्नर संगीत के बड़े

प्रेमी थे। 'कादम्बरी' नाम का आख्यान किन्नर-मिथुन और किन्नर देश पर आधारित है। किसी भी कारण से हो किनौरी का कुछ न कुछ काल्पनिक सम्बन्ध किन्नर की ओर जाता है।

(स) भाषा का उपलब्ध व्याकरण बहुत ही संक्षिप्त है—न वर्गीकृत ध्वनियां हैं और न व्याकरण के अनुसार रूप। इन ध्वनियों में कई स्थानों पर भारोपीय परिवार की भाषाओं के लक्षण मिलते हैं। आगत शब्द तो अनेक भारतीय भाषाओं के हैं परन्तु हम जितना उत्तर की ओर जाते हैं भाषाएँ अधिक अस्पष्ट होने लगती हैं, और तिब्बत-चीनी का प्रभाव अधिकाधिक लक्षित होता है।

(४) भाषा-ज्ञान की दृष्टि से भाषा का विवरण बहुत आवश्यक होता है। अनुभव करने से पता लगा है कि सूचक के साथ काम करने से ही बहुत-सी बातें स्पष्ट होने लगती हैं। यदि एक महीने तक दो घण्टे नित्य प्रति सूचक के साथ कार्य किया जाय तो शब्दों के रूप, उनकी आकृतियाँ, उपसर्ग, प्रत्यय आदि स्पष्ट होने लगते हैं, और ध्वनियों तथा व्याकरण की ओर एक निश्चित दिशा बनने लग जाती है। भाषाओं की निकटता स्थापित करना या उनको रूप-रचना की दृष्टि से अच्छी तरह समझ लेना देश की एकता में बहुत सहायक होता है। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि भाषा-विज्ञानी को किसी भाषा-विशेष का मोह नहीं होता वह तो भाषा को भाव-संप्रेषण की दृष्टि से समझने, विश्लेषित करने और विवरण प्रस्तुत करने की ओर ध्यान देता है। भाषाई कट्टरता उसके पास नहीं आ सकती, साथ ही भाषा और लिपि की एकरूपता में भी उसके द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है।

किसी भाषा का पूर्ण विवरण उपस्थित करने के लिये उस भाषा से घनिष्ठ सम्पर्क होना आवश्यक होता है। बहुत से लोग, जो भाषा-शास्त्र के ज्ञाता हैं और किसी भाषा-विशेष का अध्ययन करना चाहते हैं, वास्तव में उस भाषा के बोलने वालों में जाकर बसे हैं। सालों तक उनके साथ उठने-बैठने, बोलने-चालने से उस भाषा की विशेषताओं का ज्ञान हो पाता है। कहा जाता है अमेरिका के प्रसिद्ध ध्वनि-वेत्ता पाइक आदिवासियों के बीच अनेक वर्षों तक रहे। पाइक साहब से मेरी भेंट जर्मनी में हुई, जब वे विश्व ध्वनि-विज्ञान परिषद् में भाग लेने पधारे थे। मैं भी उसी सिल-

सिले में वहाँ गया था। विश्लेषण में उनकी गति देखकर मैं आश्चर्य-चकित रह गया। भारत के सीतापति ने भी अपने भाषण में बताया था कि शबर भाषाओं का अध्ययन उनके उस प्रदेश में कई साल रहकर ही सम्भव हो सका। भाषा-विवरण प्रस्तुत करने की यह प्रणाली आदर्श है और इस माध्यम के द्वारा किया गया कार्य यथातथ्य और निश्चित होना चाहिये। किन्तु भाषा-शास्त्री की अपनी सीमाएँ हैं और अनेक अवसरों पर यह सम्भव नहीं हो पाता कि वह स्वयं विवरण दी जानेवाली भाषा के बोलने वालों में जाकर रहे। उसका सामान्य कार्यक्षेत्र, उसकी प्रयोगशाला, पुस्तकालय, समीक्षक आदि इस बात के लिये मजबूर करते हैं कि वह अपना स्थान न छोड़े और वहीं रहकर किसी अन्य साधन के द्वारा कार्य करे। यह अन्य साधन वाली पद्धति क्षेत्र-पद्धति कही जा सकती है।

वैसे तो क्षेत्र-पद्धति का अभिप्राय यही होता है कि विवरणकर्ता उस क्षेत्र-विशेष को ही अपने अध्ययन का आधार बनाए किन्तु वह नीचे लिखी क्रिया द्वारा अपना कार्य करने की चेष्टा करता है—

(१) विवरणकर्ता अपनी पार्टी तथा यन्त्रों के साथ भाषाविशेष के क्षेत्र में जाता है, वहाँ लोगों से मिलता है और कुछ पूर्व निश्चित तथा कुछ उसी समय पर निर्धारित युक्तियों के द्वारा सामग्री एकत्र करता है। इस कार्य के सम्पन्न करने में उसे एक ही व्यक्ति से सन्तोष नहीं होता वह कई व्यक्तियों से उसी सामग्री को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कभी-कभी उस सामग्री के साधनों में उलट-फेर कर अपने द्वारा प्राप्त सामग्री की जांच करता है। इस सामग्री को एकत्र करने की प्रायः दो-तीन प्रणालियां चालू हैं—

(अ) टेप रिकार्डर द्वारा कथनों को एकत्र करना।

(ब) ध्वनि-सङ्केतों (प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-वर्णमाला) द्वारा कथनों को अङ्कित करना।

(स) प्राप्त व्याकरणों की सहायता लेना।

(द) यदि हो तो सम्बन्धित साहित्य प्राप्त करना।

इनमें पहली दो प्रणालियां प्रमुख हैं और बाद की दो निकाले गए निष्कर्षों की प्रामाणिकता सिद्ध करने में सहायक अथवा अतिरिक्त सामग्र

देने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। टेप की हुई सामग्री को प्रयोगशाला में बार-बार सुना जाता है और अङ्कन करने की चेष्टा की जाती है। इस सामग्री को बार-बार सुनने में कठिनाई होती है क्योंकि प्रचलित टेप रिकार्डों पर निश्चित सामग्री को सुनने में 'हिट और मिस' की क्रिया करनी पड़ती है। इस कठिनाई पर काबू पाने के लिये—

(१) एक ही शब्द या वाक्य को एक से अधिक बार टेप किया जाता है। प्रायः दो बार बुलवाते हैं किन्तु अधिक बार भी बुलवाया जा सकता है, परन्तु जितनी भी बार बुलवाया जाय उसमें एकरूपता होनी चाहिये अन्यथा परिणाम भ्रामक हो सकते हैं। उदाहरण के लिये (तार) शब्द दो बार बुलवाया और उसके पश्चात् (दार) शब्द तीन बार और (थार) शब्द एक बार और फिर (धार) शब्द चार बार। इन ध्वनियों में थोड़े ही अन्तर हैं और सन्निकट होने से सुनने वाला गलती कर जायगा। अतः यदि नियमित रूप से दो बार ही बुलवाया जाता है तो सभी सामग्री की आवृत्ति एक प्रकार की होती है। यदि अधिक बार आवश्यक हो तो वह भी पहले ही निश्चय होना चाहिये। इस स्थान पर टेप रिकार्डर के बारे में भी दो-तीन बातें कहनी हैं :—

(अ) बहुत से स्थानों पर जहां हमें काम करना है बिजली नहीं होती, अतः बैटरी सैट उपयुक्त रहता है।

(ब) कहीं-कहीं बड़ा सैट ले जाना कष्टप्रद होता है अतः पोर्टेबिल सेट ले जाना ठीक रहता है।

(स) पोर्टेबिल सैट पर टेप की गई सामग्री को बड़े सैट पर सुनना चाहिए—छोटे सैट पर सुनने से ध्वनियों की स्पष्टता कम रहती है। मैंने जब लंदन में टेप रिकार्डर खरीदा तो वहां के प्रयोगशाला सहायक ने बताया कि मैं टेप तो इस पर कर सकता हूं परन्तु सुनने के लिए बड़ा टेप रिकार्डर होना आवश्यक है। उसने प्रयोगशाला में ही छोटे तथा बड़े टेप रिकार्डरों पर ध्वनियां सुनाकर अपने कथन की सत्यता भी प्रमाणित कर दी।

(द) ध्वनि-अङ्कन के लिए उपयुक्त प्रयोगशाला होनी चाहिए, हर स्थान पर यह कार्य नहीं किया जा सकता।

(२) एडिनबरा की प्रयोगशाला में मल्टी टेप रिकार्डर का अनुसन्धान किया गया है, और वहां से अनेक अन्य स्थानों को भी ये टेप रिकार्डर दिए जा चुके हैं। इस यंत्र में इस बात की व्यवस्था होती है कि आप जिस ध्वनि को जितनी बार सुनना चाहें सुन सकते हैं। मशीन में एक बटन-सा होता है उसके दबाने से वांछनीय ध्वनि बराबर सुनाई देती रहेगी और जब आप अपना कार्य कर चुकेंगे तो एक दूसरा बटन दबाने पर टेप आगे की ध्वनियां सुनाएगा। टेपरिकार्डर कार्य करने के लिए थोड़े अनुभव की आवश्यकता होती है और टेप करने पर तथा उसे सुनने में भी सावधानी करनी पड़ती है।

(३) टेपरिकार्डर की पद्धति किंचित चक्करदार है क्योंकि ध्वनिकर्ता तथा ध्वनि-विवरणकर्ता के बीच ध्वनि-यंत्र भी होता है। पर काम इतमीनान के साथ होता है क्योंकि सूचक के साथ काम करने पर—

(अ) समय की पाबन्दी रहती है।

(ब) सूचक की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखना पड़ता है।

(स) सूचक से अधिक काम लेने पर तमाशा-सा बन सकता है, उसकी अरुचि भी हो सकती है।

साथ ही कृत्रिमता की मात्रा भी आ सकती है। इसके विपरीत यदि हम टेपरिकार्डर का प्रयोग न करें और क्षेत्र विशेष में जाकर कुछ अभ्यास करने के उपरान्त सूचक से प्राप्त सामग्री को अंकित करने लग जायँ तो बीच के माध्यम की आवश्यकता हट जाती है। तुलनात्मक दृष्टि से भी यह कार्य अच्छा रहता है। मान लीजिए हमारे पास ५०० शब्दों तथा १०० वाक्यों की सूचियां है। इनको हमने टाइप करा लिया और एक पंक्ति में केवल एक ही शब्द लिखा। वाक्यों के बीच में भी काफी जगह छोड़ दी। इन सूचियों को पूरा करने में हम अ, ब, स, आदि कई सूचकों से काम ले सकते हैं और तुलनात्मक दृष्टि से अपने निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं। यह भी हो सकता है कि कुछ प्रारम्भिक कार्य के उपरान्त हम यह तय करलें कि किस प्रकार की ध्वनि-अंकन प्रणाली काम में लेनी है, अंकन करने में क्या नीति रखनी है आदि। हम उन सूचियों को काम करने वाले व्यक्तियों को दे दें और वे एक-एक सूचक से उस सूची को पूरा कराएँ। अध्ययन की कई प्रणालियां हो सकती है। नीचे पाँच प्रणालियों का संकेत किया गया है।

(i) X —— A $I \times 1 = I$

A, B, C सूचक

X, Y, Z ध्वनियाँ

(ii) X —— A, B, C $1 \times 3 = 3$

(iii) X —— A
↓
Y —— B $1 \times 3 = 3$
↓
Z —— C

हो सकती है । इनसे एक अन्य प्रणाली भी बन सकती है—

(iv) X —— A_1, A_2, A_3
↓
Y —— B_1, B_2, B_3 $3 \times 3 = 9$
↓
Z —— C_1, C_2, C_3

(v) X, Y, Z —— A

चौथी प्रणाली तक बहुत ही कम लोग पहुंच पाते हैं प्रायः पहली प्रणाली तक ही काम होता है। पहली मे केवल एक डेटा होता है। दूसरी-तीसरी में तीन, तीन और चौथी में नौ। चौथी प्रणाली कभी बहुत कष्टप्रद भी हो सकती है। सम्भव है रिकार्ड की हुई सामग्री में बहुत अंतर पड़ जाय (चुनाव ठीक न किया गया हो, अंकन ठीक न किया गया हो, सुनने तथा बोलने में काफी अंतर रहा हो) अतः प्रायः यही देखा जाता है कि पहली प्रणाली से ही लोग आगे चलते हैं।

भाषाई क्षेत्र पर जाकर काम करने के कई लाभ हैं—

(१) सूचक अपने स्वाभाविक वातावरण में रहता है।

(२) क्षेत्र-विशेष का पूरा चित्र सामने होता है—कौन वस्तुएं सामान्यतः काम में आती हैं।

(३) सूचक पर बाहरी प्रभाव कम पड़ता है।
परन्तु प्रायः इतना हो नहीं पाता—

अतः एक सरल प्रणाली निकाली गई है कि उस भाषा के बोलने वाला एक व्यक्ति जिसे सूचक कहा जा सकता है चुन लिया जाय और उसको माध्यम बनाकर अपनी सुविधानुसार और सुविधाजनक स्थान पर काम किया जाय। अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के काम किए हैं। उदाहरण के लिये डा० भोलाशंकर व्यास को डा० एलन ने अपना सूचक बनाया, डा० गणेशदत्त गौड़ को श्री जोन्स ने अपना सूचक बनाया, श्री नायर को श्रीमती ह्विटली ने सूचक के रूप में लिया और ये व्यक्ति अपने स्थान से विवरणकर्ताओं के स्थानों पर पहुंचाए गए। इंगलैंड में रहते हुए इन लोगों ने सूचकों के आधार पर उपयोगी ही नहीं बहुत अंशों में प्रामाणिक अध्ययन भी उपस्थित किए। हमारा देश भी बहुत विशाल है और यहाँ भी सूचक की, काम करनेवाले के स्थान पर जाने की, संभावनाएँ हो सकती हैं। अभी हिमांचल प्रदेश का भजनसिंह नामक व्यक्ति किनौरी भाषा का सूचक होकर धुर दक्षिण त्रिवेन्द्रम आया था। एक सूचक को लेकर एक व्यक्ति भी काम कर सकता है और अनेक व्यक्ति भी काम कर सकते हैं। इसी प्रकार एक व्यक्ति कई सूचकों का उपयोग भी कर सकता है। जैसे कई सूचकों से प्राप्त सामग्री की तुलना की जा सकती है उसी प्रकार एक ही सूचक द्वारा दी गई सामग्री का अंकन भी मिलाया जा सकता है और विवरण प्रस्तुत करने में यथेष्ट सामग्री

उपलब्ध हो सकती है। जहां क्षेत्रीय पद्धति पढ़ाई जाती है वहाँ ऐसा ही करना पड़ता है। इस लेखक ने भी तुळू तथा किनौरी दोनों भाषाओं पर इसी प्रकार कार्य किया। इस पद्धति में पारस्परिक विचार-विनियम के द्वारा निष्कर्ष निकालने में सहायता रहती है। इसी कारण जब कोई भाषाशास्त्री क्षेत्र पर काम करने जाता है तो वह यह चेष्टा करता है कि उसके कुछ मित्र भी उसके साथ चलें ताकि अंकन करने में आसानी हो सके। कभी-कभी विद्यार्थियों का एक दल अपने शिक्षक के साथ जाता है अलग-अलग या एक ही सूचक द्वारा ये विद्यार्थी काम करते हैं और फिर जब शाम को सब मिलते हैं तो तुलनात्मक प्रणाली का आधार लेकर अपने शिक्षक की सहायता से निष्कर्ष निकालते हैं। इस प्रकार का किया गया कार्य कई दृष्टियों से अधिक अच्छा हो सकता है। हमारे यहाँ एक सूचक के आधार पर काम करने की प्रणाली ही अधिक प्रचलित है।

अब एक प्रश्न सामने जाता है कि सूचक का चयन किस प्रकार किया जाए। इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि एक सामान्य व्यक्ति ही चुना जाना चाहिए पर कथन को अधिक स्पष्ट करने के लिए सूचक के बारे में कुछ बातें लिखी जा रही हैं—

(१) सूचक का चुनाव करते समय जहाँ हम एक स्वस्थ व्यक्ति की आवश्यकता समझते हैं वहाँ इस बात की भी आवश्यता है कि उसके उच्चारणोपयोगी अवयव भी स्वस्थ और सामान्य प्रकार के हों। कुछ लोग तुतलाते हैं, कुछ अपने उच्चारण में सानुनासिक होते हैं, कुछ कभी किसी ध्वनि को लम्बा खींचते हैं और किसी को छोटा कर देते हैं, कुछ तकिया-कलाम रखते हैं, कुछ बहुत शीघ्र बोलते हैं और कुछ इतना धीरे बोलते हैं कि भाषा का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। इन सारी बातों की जांच करने के लिए चुनाव करते समय समुचित परीक्षण कर लेना चाहिए।

(२) हमारा सूचक न बहुत बुड्ढा होना चाहिए और न बहुत जवान। वृद्ध व्यक्ति अपनी कुछ विशेषताएं, कुछ पूर्वाग्रह और स्वभाव की कट्टरता रखते हैं, नया आदमी कुछ नये रंग में ही होता है। अतः हमें इन बातों पर ध्यान देते समय चुनाव की सीमा २५ और ४५ वर्ष के बीच रखनी चाहिए। यह एक ऐसी अवस्था है जब व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त कर सामान्य स्थिति में होता है।

(३) प्रायः पुरुषों को ही सूचक के रूप में लिया जाता है महिलाओं को नहीं लिया जाता। इसके कारण हैं :—

(अ) महिलाओं के साथ काम करना कठिन होता है—कुछ उन्हें संकोच होता है और कुछ संकोच उनके साथ काम करने वाले को भी होता है।

(ब) बहुत से शब्द और वाक्यों को पूछने, उनका अंकन करने में कठिनाई होती है। महिलाओं के साथ काम करते समय हमें अपनी शब्दा-वली आदि में सीमाएं रखनी पड़ती हैं।

(स) पुरुष एक ही स्थान पर रहने वाला होता है। विवाह के उपरान्त भी वह अपने ही निवास-स्थान पर रहता है अतः चुने गए स्थान-विशेष से जितना संपर्क पुरुष का हो सकता है उतना स्त्री का नहीं होता क्योंकि प्रायः उसका बाल्यकाल किसी दूसरे स्थान पर ही व्यतीत हुआ होता है और उस काल में उसने अपने को किसी विशेष ढँग में ही ढाला होगा। यह भी देखा गया है कि कुछ स्थानों में पुरुषों को स्त्री के स्थान पर जाकर रहना होता है तथा कहीं-कहीं स्थान-विशेष को छोड़कर अन्यत्र शादी-विवाह नहीं किये जाते—जिस नगर या ग्राम में कोई लड़की रहती रही है वहीं उसकी शादी भी हो जाती है। ऐसे अपवाद कम मिलते हैं। अतः यही मानकर चलना चाहिए कि किसी स्थान-विशेष की बोली में पुरुष जितना डूबा हुआ होता है उतनी स्त्री नहीं।

(४) चुना हुआ व्यक्ति स्थान-विशेष की संस्कृति से परिचत होना चाहिए जिससे वह शब्दों का प्रयोग वाक्यों की उपयुक्तता और समुचित पर्यायवाची देने में सफल सिद्ध हो सके। यदि हमने ऐसा व्यक्ति चुन लिया जो समाज से अलग-सा रहता है, जिसके अपने अलग विचार हैं, प्रक्रियाएं हैं तो उसके द्वारा हमें भाषा का वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा जिसके आधार पर हम उस भाषा-विशेष की सामान्य प्रवृत्तियाँ उपस्थित कर सकें। पर साथ ही यह व्यक्ति संस्कृति की इतनी गहराई में भी न हो कि अपनी संस्कृति के अतिरिक्त अन्य प्रकार से प्रभावित नहीं हुआ हो। उसे अपनी संस्कृति की मूलभूत बातों से ही परिचित होना चाहिए।

(५) पर इस बात का भी ध्यान रखना है कि चुनाव में हम इन बातों का सख्ती के साथ पालन नहीं कर सकते। अपनी आवश्यकता, स्थिति,

व्यक्ति-प्राप्ति आदि का ध्यान रखते हुए चुनाव करें। कुछ लोग चुनाव करते समय १, २ दिन तक व्यक्ति का साक्षात्कार-परिचय करते हैं और जब यह समझ लेते हैं कि यह हमारे काम का व्यक्ति है तो चुन लेते हैं। हो सकता है कि चुनाव में जाने वाला व्यक्ति उन सारी बातों में सम्पन्न न हो जो सैद्धान्तिक रूप से हमने अपने सामने रखी है—ऐसी स्थिति में समुचित परिवर्तन और स्थिति के अनुसार चुनाव कर लेना चाहिए। यदि अधिक प्रगति होती न दिखाई दे तो घबराना नहीं चाहिए और बार-बार चुनाव करने की कठिन पद्धति से बचना चाहिए।

(६) चुनाव करते समय हमें यह भी देखना चाहिए कि—

(अ) हमारा सूचक दो भाषाओं की सीमा पर स्थित ग्राम का निवासी न हो।

(ब) हम किसी ऐसे व्यक्ति को न चुनें जो एक ग्राम से निष्कासित हो कर दूसरे में जा बसा हो। विस्थापितों से कुछ आसानी हो सकती है परन्तु खतरा अधिक है।

(स) द्विभाषी न हो।

इन तीनों स्थितियों में भाषा के वास्तविक रूप को न जानने का भय है। हमें सैद्धान्तिक रूप से तो ऐसा ही व्यक्ति चुनना चाहिए जो उसी ग्राम का रहने वाला हो और बाल्यकाल से वही भाषा बोलता रहा हो। कभी-कभी ऐसा नहीं हो पाता। मुझे हैदराबाद स्थित भाषा-विज्ञानी स्कूल की क्षेत्र-पद्धति-कक्षा का स्मरण है जहां तुळू भाषा की शब्द-ध्वनि जानने के लिए एक ऐसे व्यक्ति को चुना गया जो अनेक वर्षों से आगरे में रहता था, जो कई भाषाओं का एम० ए० था, जिसने क्षेत्र-पद्धति की कई कक्षाएँ देखी थी और इसमें अनुभव भी प्राप्त किया था, जो ध्वनि, शब्द, व्याकरण-रूप, आकृति, वाक्य-विन्यास आदि की समस्त क्रियाओं से भी परिचिति था। ऐसा चुनाव विवशता की स्थिति में होता है ताकि कुछ काम तो किया जा सके और भाषा अथवा बोली-विशेष का कुछ ज्ञान हो सके।

व्यक्ति-विशेष की सुविधा के लिए दो भाषा बोलने वाला व्यक्ति भी लिया जा सकता है। इनमें से दूसरी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो दोनों समझते हों। इससे काम करने में आसानी होती है; नहीं तो प्रगति बहुत धीमी रहती है और कहीं-कहीं कुछ का कुछ अर्थ हो जाता है। डा० सुनीतिकुमार

चटर्जी ने बताया कि अमेरिका की आदि भाषाओं का अध्ययन करते समय एक व्यक्ति 'जमीन' का आदि-भाषा शब्द चाहता था। उसने जमीन की ओर इशारा किया, उसे स्पर्श भी किया परन्तु उस जमीन पर घास उग रही थी अतः आदि-भाषा बोलने वाले ने 'जमीन' के स्थान पर 'घास' शब्द का समानार्थी दे दिया। यह शब्द भी ऐसा विचित्र था, संभवतः 'गोतमाला' कि कुछ लोगों ने इसे 'गौतमालय' समझ कर गौतम ऋषि से संबंधित कर दिया। साथ ही स्थूल पदार्थों के अतिरिक्त सूक्ष्म, भाववाचक शब्दों को प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। इसीलिए प्रायः यही देखा गया है कि इस आदर्श सिद्धान्त को छोड़कर भाषा-विवरण-कर्ता एक ऐसा ही व्यक्ति चुनता है जो एक ऐसी भाषा जानता हो जिसे काम करने वाला भी बखूबी बोलता और समझता हो। लंदन विश्वविद्यालय में जितने भी सूचक लिए गए उनमें प्रायः सभी अँग्रेजी जानने वाले थे पर कुछ ऐसे भी भाषा-विज्ञानी हैं जो विवरण को वास्तविक रूप में उपस्थित करने हेतु उसी क्षेत्र में वर्षों तक रहे हैं। अतः यह व्यक्तिगत सुविधा पर छोड़ा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि सूचक के साथ कार्य किस प्रकार किया जाए। सबसे प्रथम तो हमें इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि सूचक कोई जीवन-रहित पदार्थ नहीं, मशीन नहीं है और न कोई पुस्तक है। वह एक मनुष्य है, उसके विचार हैं, भावनाएँ हैं और साथ ही व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। हमें इन बातों का ध्यान रखकर उसके साथ काम करना चाहिए। हम अपने सूचक को थोड़ा समझने की कोशिश करें, उनकी मनोवृत्तियों का रुख समझें और उससे अधिक से अधिक सहयोग-प्राप्ति की चेष्टा करें। उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए यदा-कदा उसकी भाषा के कुछ शब्द तथा वाक्य बोलें। उसके भोजन-विशेष में सम्मिलित हों तथा उसकी रीति-नीति में दिलचस्पी दिखायें। कोशिश इस बात की करें कि वह आपको अजनबी न समझे और उसके मन में यह भ्रान्ति न आने पाये कि वह आपके हाथ का खिलौना है अथवा उसके द्वारा जो कुछ कार्य किया जा रहा है वह विनोदमात्र है।

हमें पहले स्थूल पदार्थों से आरंभ करना चाहिए और वे भी ऐसे जिनसे हमारा नित्यप्रति का समीप्य और साहचर्य है। जिस प्रकार हमें शब्दावली प्राप्त हो उसको अंकित करते रहना चाहिए—एक समय ऐसा आ सकता है जब हम स्वयं ही इस स्थिति में हो जायेंगे कि कुछ भ्रान्तियों का परिहार

कर सकें और उनकी पुष्टि सूचक द्वारा भी प्राप्त हो सके। हमें इस बात का ध्यान रखना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा-विशेष बोलता है। आदर्श रूप में सिद्धान्त यही है कि कोई दो व्यक्ति एक-सी भाषा नहीं बोलते और एक ही व्यक्ति भी कभी दो अवसरों पर एक-सी भाषा नही बोलता–परिवर्तन होना अवश्यंभावी है। ऐसी स्थिति में हमें उस वर्ग की भाषा का अध्ययन करना चाहिए जो उस क्षेत्र विशेष में महत्त्वपूर्ण है। भाषा के अनेक प्रकार हैं, महत्त्वपूर्ण समाज की अपनी भाषा होती है अन्य अंगों की अपनी, पर क्षेत्र-विशेष की भाषा का अध्ययन करते समय महत्त्वपूर्ण समाज की भाषा लेना ही समुचित होगा वैसे कम महत्त्वपूर्ण अथवा व्यक्ति-समाज-परिवार-विशेष की भाषा का भी अध्ययन किया जा सकता है। यह कार्य विवरणकर्ता पर ही निर्भर है कि वह अपने अध्ययन की भाषा का सम्यक् चुनाव करे।

अपने अध्ययन और विवरण में हम बहुत सख्त नहीं हो सकते, हमें काफी उदार वृत्ति से काम करना होगा। सूचक जो कहे उसे मानना चाहिए, कम से कम प्रारंभिक अवस्था में तो अवश्य ही। अधिक गहराई में पैठ करने की आवश्यकता भी, आरंभ में, नहीं होनी चाहिए।

सबसे प्रमुख बात यह है कि हम अपनी सामान्य बुद्धि का समुचित प्रयोग करें। कहीं-कहीं हमें समझाना पड़ सकता है, कई प्रकार से एक शब्द को निकालना पड़ता है, उसके अर्थ-प्रयोग आदि पर ध्यान देना पड़ता है। उदाहरण के लिए 'फाटक' शब्द लीजिए—हमें बताना पड़ेगा कि यह किस स्थिति-विशेष से संबंधित है, इसमें और 'दरवाजे' में क्या अंतर है—मकान के साथ इसका क्या संबंध है। अथवा राजस्थानी का 'कागज' लीजिए। यह सामान्य कागज नहीं होता बल्कि इसका अर्थ 'पत्र' होता है। अथवा बंगाली 'स्वभाव' लीजिए यह हिंदी के 'स्वभाव' से भिन्न है—बंगला में 'स्वभाव' 'चरित्र' का सूचक होता है। ऐसी स्थितियों में प्राप्त सामग्री को अच्छी तरह परख लेना चाहिए और इस बात का निश्चय होना चाहिए कि हमें वांछनीय सामग्री प्राप्त हो रही है।

इस सबसे पूर्व विवरणकर्ता को इस बात का पूरा ज्ञान होना चाहिए कि उसे क्या करना है। सूचक की भाषा अथवा बोली का महत्त्व बताते हुए उसका सहयोग प्राप्त करना चाहिए। यदि सूचक बुद्धिमान हुआ तो आपके कार्य में बहुत मदद दे सकेगा। ऊपर लिखी गई सामग्री में स्थान-स्थान पर

यह लक्षित होता है कि सूचक कम से कम दो भाषाएं जानने वाला है जिनमें से एक विवरणकर्ता भी जानता है। यह पद्धति आदर्श तो नहीं कही जा सकती परन्तु काम करने वालों के लिए सुविधाजनक और प्रगतियुक्त यही पद्धति बन पाई है। आदर्श पद्धति पर तो अपनी धुन के पक्के कुछ ही व्यक्ति काम कर सके हैं।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि हमारी सामग्री का केन्द्रबिन्दु वह संस्कृति-विशेष होगी जो वहां पाई जाती है। हमें कुछ मूल शब्दों से अपने कार्य में आगे बढ़ना चाहिए। उदाहरण के लिए ऐसे शब्द लेने चाहिएँ जिनका नित्य संबन्ध हो, जैसे शरीर के विभिन्न अंग, संबंधियों के लिए प्रयुक्त शब्द, संख्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, नित्य प्रति के कार्य। ध्यान रखने की बात है कि ध्वन्यात्मक शब्द, अन्य भाषा के स्वीकृत शब्द आदि से बचना चाहिए। ठीक तो यह रहता है कि पहले से ही शब्दों तथा वाक्यों की एक सूची बना लेनी चाहिए—सामयिक परिवर्तन हो सकता है परन्तु पहले से एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार चलना अधिक व्यवस्थित और प्रगतियुक्त होता है। कुछ व्यक्ति भाषा-भूगोल की दृष्टि से अनेक मिली-जुली भाषाओं का अध्ययन करने हेतु विभिन्न क्षेत्रों में एक ही शब्दावली तथा वाक्यावली पर कार्य करते हैं। न मिलने वाली भाषाओं में भी यही तालिका प्रारंभिक उपयोग में ली जा सकती है। परन्तु इस तालिका को बहुत सावधानी के साथ प्रस्तुत करना चाहिए ताकि हमारा ध्वनि और रूप संबंधी अध्ययन ठीक तरह हो सके और वाक्य संरचना संबंधी क्रम का भी पता लग सके। एकवचन-बहुवचन, स्त्रीलिंग-पुल्लिंग और कुछ समय उपरान्त (सुविधा के लिए वाक्यों की सहायता से) क्रिया के विभिन्न रूप कम से कम वर्तमान, भूत और भविष्य के सामान्य काल के रूप हमारी सूची के आधार पर निर्मित हो जाने चाहिएँ। आकृति की दृष्टि से अन्य भाषाओं से गृहीत शब्द कुछ अधिक प्रकाश डालते हैं, अतः आकृति का निर्धारण करते समय अन्य भाषाओं से लिए गए प्रचलित शब्दों का भी ज्ञान करना उपयोगी रहता है।

इस संपूर्ण कार्य में हमारी अपनी बनी हुई कोई धारणाएँ अथवा पूर्व मान्यताएँ नहीं होनी चाहिए। हमें बिना किसी निश्चित मत के अपना अध्ययन आरंभ करना चाहिए और सूचक द्वारा दी गई सामग्री को प्रामाणिक मानना चाहिए। हां, यह दूसरी बात है कि पुष्टि के लिए आप अन्य सूचकों

से भी अपनी शंका का निवारण कर लें पर इस शुद्धि-अशुद्धि के मार्ग पर भी बड़ी सावधानी से चलना होगा। क्षेत्र-पद्धति एक परिश्रमसाध्य कार्य है। हो सकता है आपका प्रथम अंकन एक दम व्यर्थ हो जाए अतः धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए अपने अंकन की पद्धति पर ध्यान रखें और यथासमय उसको ठीक कर लें। ये सारी बातें अनुभव के आधार पर लिखी गई हैं और मेरा अनुमान है कि अनुभव के आधार पर ही इनकी उपयोगिता और प्रामाणिकता प्रतिपादित हो सकती है।

५

भाषा-भूगोल

भाषा-भूगोल को बोली-भूगोल भी कहा जाता है। यह भी भाषा-विज्ञान की एक शाखा है जिसके अंतर्गत किसी क्षेत्र-विशेष में बोली जाने वाली विविध बोलियों का अंतर अध्ययन का विषय होता है। इस अध्ययन के आधार पर अनेक परिणाम निकाले जा सकते हैं—

(१) ध्वनि-संबंधी (२) रूप-संबंधी
(३) वाक्य-संबंधी (४) प्रयोग-संबंधी

अध्ययन-क्षेत्र के अंतर्गत कभी-कभी हम कोई छोटा देश तक ले सकते हैं, और कभी कोई जिला मात्र ही—यह चुनाव भाषा की अंतःप्रवृत्ति पर निर्भर रहता है। लंदन (अब एडिनबरा) के विलियम जोन्स ने यार्क-शायर को अपने अध्ययन का विषय बनाया और उसमें भी केवल डेफिनिट आर्टिकल पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। प्रचुर मात्रा में सामग्री एकत्र कर उनका वर्गीकरण किया, मानचित्र में उनकी स्थापना की और तदुपरान्त निष्कर्ष निकाले। हिन्दी के एक विद्यार्थी ने अलीगढ़ और बुलन्दशहर तक अपना अध्ययन सीमित रखा, एक अन्य विद्यार्थी बुंदेलखंड को अपनी सीमा मान कर काम कर रहे हैं। काम करने के भी कई स्तर हो सकते हैं। अधिक लोग उच्चारण से प्रभावित होते हैं और सामग्री ग्रहण करने में विविध बिन्दुओं के व्यक्तियों द्वारा सामग्री एकत्र करते हैं। रूपात्मक अध्ययन में भी व्यक्तिगत साक्षात्कार उपयोगी होता है, पर यत्किंचित तुलना के हेतु लिखित सामग्री को भी प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। इस प्रकार भाषा-भूगोल के अंतर्गत उच्चारण, शब्द-माला, व्याकरण आदि अनेक प्रसंग आते हैं। कुछ लोग केवल एक अंग या एक समस्या को लेकर ही काम करते हैं कुछ अपने अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत बनाकर विभिन्न अंगों का अध्ययन और विश्लेषण करते हैं। वाक्य-विन्यास, स्वराघात, लय आदि के आधार पर भी विचार किया जा सकता है।

इस कार्य को सम्पादित करने में भी क्षेत्र-पद्धति, प्रमुख रूप से, सहायक होती है। अध्ययन करने की कई प्रणालियाँ हैं। यथा—

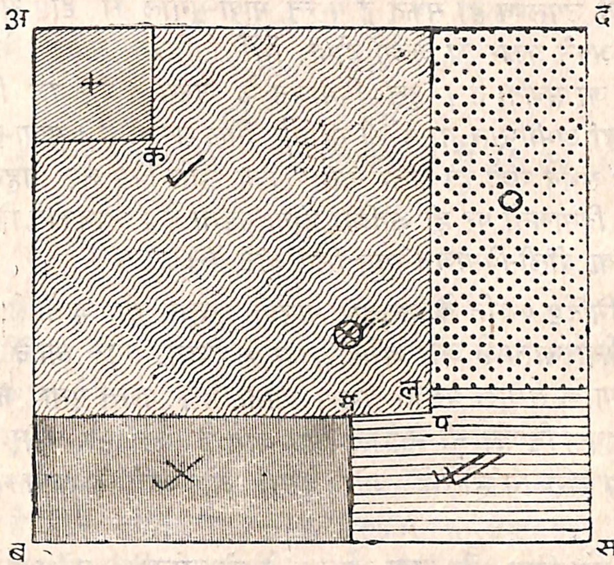
१. एक ही समय पर कई कार्य-कर्ता अथवा अन्वेषक आपस में क्षेत्र बाँट कर काम कर सकते हैं। अपने-अपने हिस्से का काम पूरा करने के पश्चात् एक संयुक्त विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है और यदि आवश्यक हुआ तो परिणाम अथवा निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। आज तक अनेक सर्वेक्षण इसी प्रणाली के अनुसरण पर चल रहे हैं।

२. एक ही व्यक्ति विभिन्न स्थानों पर जाकर स्थानीय सूचकों की सहायता से सामग्री उपलब्ध करता है। इस में समय तो अधिक लगता है पर अध्ययन की प्रणाली नितांत सम रहती है।

३. किसी योजना को एक व्यक्ति अपने हाथ में लेता है और अनेक शोध सहायकों की सहायता से अपने द्वारा दिए गए सिद्धान्त के आधार पर सामग्री संचित कराता है। शोध-सहायकों द्वारा एकत्र सामग्री पर वह विचार करता है और पूरी सामग्री को इस रूप में रखता है जैसे सम्पूर्ण सामग्री उसी के द्वारा एकत्र की गई हो। संचित सामग्री का चित्रांकन, वर्गांकन, रेखांकन आदि भी किया जाता है और निष्कर्ष प्रतिपादित किए जाते हैं।

ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में इन दिनों तीसरी पद्धति का अधिक प्रचलन है। भाषा संबंधी कार्य इस आधार पर नहीं चल रहा है उसमें प्रायः द्वितीय पद्धति देखी जाती है। प्रथम पद्धति में आवश्यकता इस बात की है कि संबंधित सभी व्यक्ति पहले इस बात का निश्चय करा लें कि कार्य करने की पद्धति क्या होगी, इसमें किसी प्रकार व्यवधान नहीं होना चाहिए। साथ ही यह भी तै कर लेना चाहिए कि व्यक्तिगत आधार पर संचित की गई संपूर्ण सामग्री का समष्टिरूप में उपयोग किस प्रकार किया जाएगा। क्षेत्र-पद्धति की भांति इस कार्य की भी सभी प्रक्रियाओं पर पूरी सतर्कता बर्तनी चाहिए। संभव है इस कार्य के अंतर्गत सूचक का चुनाव करने में और भी अधिक सावधानी वांछनीय हो। उदाहरण के लिए किसी टोली-विशेष का अध्ययन करने में हम एक स्थान नियत कर लेते हैं और वहीं सम्पूर्ण सामग्री एकत्र की जाती है। हमारी सूचना का केवल एक रूप होता है और उसी को आधार मान कर आगे का पूरा कार्य किया जाता है। यह आवश्यक है कि इस स्थानविशेष या व्यक्तिविशेष का चुनाव करने के पूर्व सावधानी रखी जाए। पर जब एकबार स्थान और सूचक का चुनाव हो जाए तो

फिर इधर-उधर होने की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत भाषा-भूगोल में कई स्थान नियत करने पड़ते हैं और उनके निश्चय करने में भी उन सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता है जो किसी एक बोली का अध्ययन करने में आवश्यक हैं। सूचकों के चुनाव में भी उसी सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि उन्हीं के माध्यम से हमें वह सामग्री प्राप्त करनी होती है जो हमारे कार्य को स्पष्ट करने में सहायक हो सके। नीचे लिखे चित्र में देखें—



यदि अ ब स द सम्पूर्ण क्षेत्र को लिया जाए तो ○ स्थान से सूचक प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। पर जब हम बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे तो हमें उस विशेष क्षेत्र अ ब स द को कई भागों में बांटना पड़ेगा। सुविधा के लिए हम सीधी रेखाओं द्वारा ऐसा विभाजन करते हैं—व्यवहार में तो रेखाएँ बहुत वक्र होती हैं—

ऊपर के चित्र में—

अ̅ ब̅ स̅ द̅ को सीधी रेखाओं के द्वारा—

अ̅ प̅

अ̅ क̅

द ल

ब म, तथा

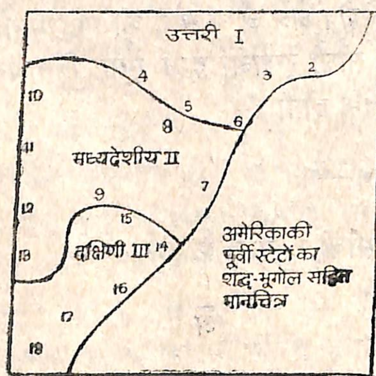
म स

क्षेत्रों में बांट लिया। व्यवहार में यह विभाजन-कार्य काफी कठिन होता है। वैसे जिले, तहसील, ग्राम, ग्राम-पंचायत और मुहल्लों के विभाजन आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं परन्तु भाषा-भूगोल की दृष्टि से उपयोगी विभाजन अपने प्रकार का अलग होगा, जिसे विधिवत् सर्वेक्षण के उपरान्त ही दिया जा सकता है। इस विभाजन के उपरान्त वे स्थान नियत किए जाएँगे जहां अभीप्सित नमूने की सामग्री मिल सकती है। भाषा-सर्वेक्षण का कार्य प्रायः संभव नहीं हो पाता अतः राज्य द्वारा किए गए तहसील आदि के रूप में विभाजनों पर ही आश्रित होना पड़ता है। राजकीय विभाजन ही भाषा अथवा बोली-विभाजन मान लिए जाते हैं।

जब निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार सामग्री प्रस्तुत हो जाती है तो उसका संपादन किया जाता है और अनेक प्रकार के चित्रों, वर्गों आदि द्वारा उसे सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु ऐसा करने से पूर्व कुछ आवश्यक निष्कर्ष भी निकाल लिए जाते हैं जो एक ओर तो हमारे सर्वेक्षण का परिणाम होते हैं और दूसरी ओर आगे के काम में सहायक होते हैं।

यहां एक चित्र और दिया जा रहा है जो वास्तविक सर्वेक्षण के आधार

शब्द-भूगोल



पर बनाया गया है—यह अमेरिका की पूर्वी स्टेटों का मानचित्र है, और इसका आधार कतिपय शब्द हैं। इसीलिए इसका शीर्षक "शब्द-भूगोल" दिया गया है—

पहले बड़े-बड़े भाग किए जाते हैं, तदुपरान्त उन्हें छोटे विभागों में विभक्त किया जाता है और फिर उन्हें मानचित्र पर अंकित करते हैं। ऊपर जो क्षेत्र लिया गया है उसमें तीन भाग हैं—

उत्तरी	I
मध्यदेशीय	II
दक्षिणी	III

इसके उपरान्त अंकों में दिए गए विभाग 1 से 18 तक किए गए हैं जिनमें

उत्तरी	1—6
मध्यदेशीय	7—13
दक्षिणी	14—18

में क्रमशः मिलान की मात्रा अधिक है। वैसे दिए गए सभी अंकों से संकेतित क्षेत्रों में विभिन्नता है।

शब्द-भूगोल में विश्लेषण का आधार अनेक प्रकार के शब्द हो सकते हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण पद आदि। इनमें भी कोई विशेष रूप लिए जा सकते है जैसे जातिवाचक संज्ञा, पुरुषवाचक सर्वनाम, संबंधबोधक विशेषण। शब्द के संबंध में अनुसंधानकर्ता प्रायः तीन प्रकार के मानचित्रों का प्रयोग करते हैं—

१. एक ही वस्तु अथवा कार्य के लिए प्रयुक्त होने वाले विभिन्न शब्द—दलिया, थूली।

२. एक ही शब्द के उच्चारण में भेद—उर्द, उड्द, उड़्द, उरद।

३. व्याकरण के अनुसार शब्दों के रूपों में अन्तर।

से, सें, सैं, ते, तें—

उदाहरण के लिए व्रजभाषा प्रान्त में { लड़का }, { लड़की } के लिए प्रयुक्त शब्द लीजिए। कम से कम नीचे लिखे भेद सुनने को मिलेंगे—

१. (१) [छोरा] [छोरी]
(२) [छोकड़ा] [छोकड़ी]
(३) [छोकरा] [छोकरी] } कहीं-कहीं वर्गविशेष में

(४) [लाला] [लाली] प्यार में । आदर में
(५) [मोड़ा] [मोड़ी]
(६) [मोंड़ा] [मोंड़ी]
(७) [लौंड़ा] [लौंड़ी] ⟶ [लौंड़िया]
(८) [लौंडा] [लौंडी] ⟶ [लौंडिया] कम मात्रा में
(९) [लल्लू] [लल्ली] प्यार में
(१०) [छोहरा] [छोहरी]

इस प्रकार के और भी अंतर हो सकते हैं। कार्य करने वाला सावधानी से यह देखेगा कि इन शब्दों में कहाँ-कहाँ अंतर मिलते हैं और उनकी भौगोलिक सीमाएं क्या हैं।

२. एक ही शब्द के उच्चारण में भी भेद मिलते हैं। उदाहरणार्थ हिंदी के एक विश्लेषक ने { उड़द } शब्द का अध्ययन किया और नीचे लिखे कुछ भेद पाए—

[उड़द] [उड़्द] [उर्द] [उद्द] [उड़्द्] [उरद]

३. इसी प्रकार व्याकरण के अनुसार भी शब्द-रूप में अंतर देखा जा सकता है। जैसे { से } के लिए—

[ते] [तें] [तै] [तैं]
[से] [सें] [सै] [सैं]
[सू] [सूं]
[सो] [सों] [सौ) (सौं)
{ उससे } (बाते) (बातें) (बातै) (बातैं)
[बासू] बासूँ]
[बासौ] [बासौं] [बासो] [बासों]

{ उससे } उस + से = वा + से (विभिन्न रूप)

{ उस } ⟶ {बा} { उसको } ⟶ [बाको], [बाय]
{ उसका } ⟶ [बाका] [बाको]
{ उससे } ⟶ [बासे] {बाते} |बा| + ···
{ उसपर } ⟶ [बापै]
{ उसमें } ⟶ [बामें]

इस प्रकार शब्द-सम्बन्धी मानचित्र तीन प्रकार के हो सकते हैं। यह एक बड़ा कार्य है और हमारे देश में इस ओर केवल श्रीगणेश मात्र हुआ है। 'न्यू इंगलैंड' की जो 'भाषा एटलस' प्रकाशित हुई है उसके छः भाग हैं और प्रत्येक सेट का मूल्य लगभग १४५०) है। इसको तैयार करने में लगभग पौने दो करोड़ रुपया व्यय हुआ। भाषा-अध्ययन का यह भी एक उपयोगी प्रकार है। ऐसी चेष्टा भी चल रही है कि सम्पूर्ण अमेरिका का 'भाषा-एटलस' प्रस्तुत किया जाए। काम चालू है, और अनेक स्थानों पर स्थानीय एटलस तैयार हो रहे हैं जिनके आधार पर कार्य आगे बढ़ाया जा सकता है। आधुनिक काल में अंग्रेजी भाषा के रूप का एतद् विषयक अध्ययन भी तब संभव है। इस प्रकार के मानचित्रों को आधार मानकर बोलियों की सीमाएँ अधिक निश्चय के साथ निर्धारित की जा सकती हैं।

इस विषय में आधुनिक कार्य-प्रणाली का निर्देशन अमेरिकन विद्वान् ब्लूमफील्ड ने किया। उनके द्वारा बोली-विज्ञान के अध्ययन में ऊपर लिखी तीनों दिशाओं का संकेत हुआ है। स्वभावतः, सर्वप्रथम, हमारा ध्यान संज्ञा, सर्वनाम आदि पदों की ओर ही जाता है। परन्तु बोली-कोश इतना ही नहीं होता उसमें उच्चारण तथा व्याकरण-सम्बन्धी अध्ययन भी सम्मिलित हैं और इसी के आधार पर 'शब्द-एटलस' में तीन प्रकार के चित्र होते हैं।

भाषा के विवरणात्मक अध्ययन में भाषा-भूगोल भी एक उत्तम अध्ययन है। भाषा-विभिन्नता के आधार पर सामाजिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का अन्तर भी स्पष्ट किया जा सकता है और उनकी सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं। जैसा ऊपर कहा गया है इस अध्ययन की पद्धति बहुत कुछ क्षेत्र-पद्धति पर आधारित है किन्तु इसका रूप कुछ भिन्न प्रकार का होता है। भौगोलिक अंतर के आधार पर ऐतिहासिक निष्कर्षों की ओर भी अग्रसर हुआ जा सकता है। काम करने की प्रणाली कुछ इस प्रकार की होनी चाहिए—

१. सर्वप्रथम एक प्रारंभिक सर्वेक्षण कर लेना चाहिए जिसके आधार पर सामान्य रूप से यह निश्चित हो जाए कि एक भाग से दूसरे भाग में परिवर्तन की मुख्य दिशाएँ क्या हैं।

२. इसके पश्चात् दो तालिकाएँ बनाई जाएँ जिनसे

(a) ऐसे भौगोलिक बिन्दु स्थापित किए जांय जहाँ से परिवर्तन का परीक्षण किया जाना संभव हो सके, तथा

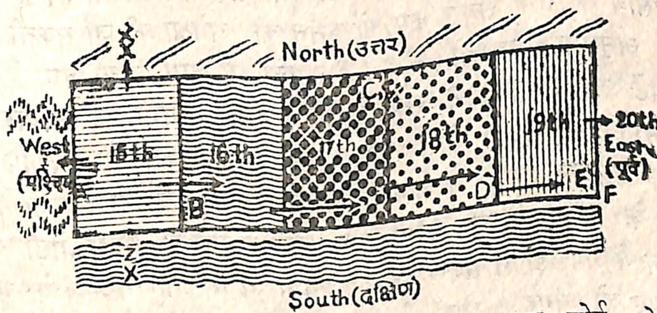
(b) उस सामग्री की सूची मिल सके जिसका मिलान करना है और जिसके फलस्वरूप परिवर्तन का रूप स्पष्ट करना है।

३. तदनन्तर क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति सर्वेक्षण के आधार पर निश्चित किए गए बिन्दुओं पर ठहर कर निर्धारित सूची के अनुसार सामग्री एकत्र करें। साथ-साथ मिलान का काम भी करते जाएं। प्रत्येक बिन्दु पर केवल एक या दो सूचकों से ही काम लिया जाय जिनमें मुख्य सूचक तो एक ही हो, दूसरे से पुष्टि कराने का काम लिया जा सकता है। सूचकों में ऐसे लोगों का ही चुनाव दिया जाय जो बाल्यकाल से उस स्थान पर रहते रहे हों।

४. सारी सूचना प्राप्त करने के उपरान्त यथाविधि मानचित्र बनाए जाएं और उनमें शब्द-परिवर्तन अथवा अन्य सामग्री अंकित की जाए। यह पहले ही विचार कर लेना चाहिए कि किस प्रकार की सामग्री संग्रहीत करनी है। इस संबन्ध में अमेरिका में हैंस कूरेथ ने जो कार्य किया है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है और भाषा-भूगोल या बोली-भूगोल के प्रसंग में उन्हीं की पद्धति मान्य समझी जाती है। सामग्री का संग्रह और विवरण किस प्रकार हो इसका विवरण भी मिलता है। इस विज्ञान के विशेष अध्ययन में पूर्वी भाग का "शब्द-भूगोल" नामक अध्ययन अधिक सहायक हो सकता है।

कुछ लोगों का अनुमान है कि भाषा या बोली-भूगोल के जो निष्कर्ष निकलेंगे उनके आधार पर मानवी बोली का इतिहास समझने में सहायता मिल सकती है। किन्तु यह धारणा पूरी होती दिखायी नहीं देती। सबसे बड़ी कठिनाई तो यही है कि जिन लोगों के साथ हम काम करते हैं, अथवा जो हमारे सूचक होते हैं, वे हमारे समय के ही होते हैं और प्रायः हमारे आस-पास ही फिरने वाले होते हैं। यह मानना भ्रमपूर्ण है कि वे अपनी बोली में समय तथा अन्य बातों के आधार पर परिवर्तन नहीं करते। जैसे-जैसे वे बड़े नगरों के निकट आते हैं उनकी बोली में नवीनता आती जाती है और परिवर्तन का क्रम वेग से चलता है। आज के युग में इस प्रकार की कल्पना ही व्यर्थ है कि कोई व्यक्ति परिवर्तन की इस द्रुत एवं शक्तिशाली गति से प्रभावित नहीं हुआ होगा।

अतः, कहा जा सकता है कि, पुराने इतिहास के पुनर्निर्माण में बोली-भूगोल से अधिक लाभ नहीं उठाया जा सकता। किन्हीं विशेष स्थितियों में ही यह संभव हो सकता है कि इस प्रकार का पुराना इतिहास प्राप्त किया जा सके। इस प्रसंग में नीचे दिया गया चार्ट उपयोगी होगा :—



मान लीजिए १५ वीं शताब्दी में कुछ लोग अथवा कोई लोग A नामक स्थान में रहते थे। आबादी बढ़ने, शत्रु का आक्रमण होने, जंगली जानवरों का डर होने आदि किन्हीं कारणों से उन्हें आगे बढ़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। उत्तर में समुद्र था, पश्चिम में पहाड़ तथा दक्षिण में मरुस्थल अतः ये लोग x, y, z तीनों दिशाओं में (उत्तर, पश्चिम, दक्षिण में) नहीं जा सकते थे, फलस्वरूप पूर्व दिशा की ओर बढ़े और B स्थान में भी रहने लगे। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सब लोग आगे नहीं बढ़ते कुछ पीछे भी रह जाते हैं—अतः A स्थान पर भी, निश्चय ही, कुछ लोग रह गए होंगे। इस प्रकार अब १६ वीं शताब्दी में, A तथा B दो स्थानों पर वे लोग रहने लगे जो १५ वीं शताब्दी में केवल एक स्थान A पर रहते थे। A के रहने वाले पुराने निवासी कहे जा सकते हैं और B के नए। इसी प्रकार विभिन्न समयों में परिस्थितियों से प्रेरित होकर लोग आगे बढ़ते गए और २० वीं सदी तक F स्थान तक पहुँच गए। अब इनका निवास क्षेत्र A से F तक हो गया। F स्थान तक आते आते २० वीं सदी आ गई और १५ वीं सदी के A स्थान से ये लोग काफी दूर हो गए। पुनर्निवास का यह क्रम कुछ ऐसा रहा—

A	१५ वीं शताब्दी
B	१६ वीं „
C	१७ वीं „
D	१८ वीं „

E	१९ वीं शताब्दी
F	२० वीं ,,

अब यह भी मान लीजिए कि F आधुनिक सभ्यता का केन्द्र है अतः F, E, D, C, B, A सब में घटता हुआ परिवर्तन लक्षित हो सकेगा। इस हिसाब से A में सबसे कम परिवर्तन की अपेक्षा की जा सकती है। जिन ६ अनुसंधान कर्ताओं ने इन ६ स्थानों में काम किया जब वे एक साथ बैठें तो अपने-अपने स्थानों की ग्रहीत सामग्री के आधार पर इस सामग्री का परीक्षण ऐतिहासिक रूप में कर सकते हैं। यद्यपि सभी लोगों ने वर्तमान समय में काम किया है परन्तु F में जो अवस्था है वह वर्तमान के अधिक निकट होगी और अन्य स्थानों में थोड़ी-थोड़ी कम। A स्थान में पिछड़ापन सबसे अधिक मात्रा में मिलेगा। आज के युग में भी देखिए जो नगर A श्रेणी के हैं उनमें B की अपेक्षा और B में C की अपेक्षा अधिक नूतनता है। शहरों के निकट गाँव और भीतरी गाँवों में भी अंतर मिलेगा। आज के युग में भी ऐसे गाँव मिलेंगे जहाँ १७, १८ वीं शताब्दी देखी जा सकती है और ऐसे नगर भी जो यूरोप और अमेरिका के नागरिक जीवन के अंग प्रतीत होते हैं।

A से F तक जो स्थिति मिलेगी वह विशुद्ध रूप में ऐसी नहीं होगी जिससे १५ वीं से २० वीं सदी तक का अनुमान लगाया जा सके। परिवर्तन को गति इतनी द्रुत और अनिश्चित होती है कि किसी स्थान-विशेष की भाषा को प्राचीनतर मानकर काम नहीं किया जा सकता। और आज के युग में तो यह और भी कठिन है क्योंकि पारस्परिक संपर्क बहुत बढ़ गया है। इस सामग्री का मिलान करते समय यदि हमें कुछ लिखित सामग्री भी मिल जाय तो और भी ठीक रहे, क्योंकि उसके आधार पर संग्रहीत रिकार्ड अधिक पूर्णता के साथ जांचे जा सकेंगे। इससे मिलान करते समय हमारे सामने यह चित्र होगा—

स्थान	ग्रहीत सामग्री का समय	पिछले रिकार्ड (हस्तलिखित ग्रन्थ, शिलालेख आदि के रूप में)
A	२० वीं सदी	१५ वीं सदी
B	,,	१६ वीं ,,
C	,,	१७ वीं ,,

स्थान	ग्रहीत सामग्री का समय	पिछले रिकार्ड (हस्तलिखित ग्रन्थ, शिलालेख आदि के रूप में)
D	२० वीं सदी	१८ वीं सदी
E	,,	१९ वीं ,,
F	,,	२० वीं ,,

इस प्रकार की स्थिति में प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण की संभावना अधिक हो सकती है पर यह भी अपेक्षाकृत कम समय और स्थान के लिए संभव हो सकेगा। स्मरण रखना चाहिए कि हमारी बोली-भूगोल का एकमात्र मंतव्य यही नहीं है और इसी कारण केवल इसी आधार पर हम बोली-भुगोल का महत्त्व भुला नहीं सकते। इस विज्ञान के कम से कम नीचे लिखे उपयोग तो हैं ही—

१. सर्वप्रथम बोली-भूगोल के आधार पर कुछ ऐसे निष्कर्ष संभव होते हैं जो इतिहास अथवा प्राक्-इतिहास की कोटि में नहीं आते। अमेरिका में किए गए अनुसन्धानों के आधार पर सामाजिक ढाँचे और बोलने की प्रक्रिया में सम्बन्ध स्थापित किया गया है। हिन्दी का ही एक उदाहरण लीजिए—भाषा के कई रूप प्राप्त होते हैं—

(१) संस्कृत शब्दों से युक्त भाषा— (तत्सम शब्द)	i पंडित ii पुराने विचार वाला iii नया डिग्रीधारी
(२) फारसी-अरबी शब्दों सहित भाषा	i प्राचीन परिपाटी का व्यक्ति ii मुसलमान iii मुसलमानी संपर्क सहित iv दिल्ली-लखनऊ के निवासी v नफासत-पसंद व्यक्ति
(३) हिन्दुस्तानी—अँग्रेजी, फारसी, अरबी, संस्कृत (तद्भव) आदि से युक्त	i आधुनिक विद्यार्थी ii बड़े नगरों का निवासी iii आधुनिक कला-प्रेमी
(४) शब्दों को बिगाड़ कर बनाई गई भाषा	i पुराना आई०सी० एस०

ii नया ईसाई
iii अपने को साहब मानने वाला व्यक्ति
iv पश्चिमी सभ्यता का भक्त
v यदा-कदा अहिंदी भाषी

(५) वर्ग, लिंग, समाज, आदि से सम्बन्धित भाषा विशेष
i उच्च, मध्य, निम्न (आर्थिक स्तर)
ii स्त्री, पुरुष, नपुंसक
iii वर्ण विशेष

भौगोलिक सर्वेक्षण के कुछ प्रकार, जिनमें एक भाषा–बोली–सर्वेक्षण भी हो सकता है, इस बात का पता लगा सकते हैं कि किसी भूभाग की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि समस्याएँ क्या हैं। इनका समाधान पाने में भाषा के अतिरिक्त और बातें भी हो सकती हैं परन्तु भाषाई भूगोल भी उसका एक प्रमुख अङ्ग है। भारत के इस नव राष्ट्र में भाषा-विभिन्नता एक बड़ी समस्या बन गई है—

(१) भाषा के आधार पर देश का विभाजन हुआ है—प्रदेशों का निर्माण हुआ है।

(२) भाषा के आधार पर कई वर्गों में वैमनस्य चला और चल रहा है।

(३) प्रदेशों का पुनर्विभाजन प्रायः भाषा पर आधारित है।

(४) विभिन्न बोलियों तथा भाषाओं के गुणगान सुने जाते हैं। सब कोई अपनी भाषा अथवा बोली को 'मीठी' बताते हैं। संभव है यह 'मिठास' उस भाषा तथा बोली का प्रयोग करने वालों तक ही सीमित हो—अन्य भाषा-बोली वाले उस 'माधुर्य' का रसास्वादन न कर सकते हों।

(५) राजस्थानी, बिहारी अपनी भाषाई स्थिति अलग बताते हुए अपने-अपने प्रदेश की भाषा को मान्यता प्राप्त कराने में लगे हुए हैं।

(६) सिंधी-भाषा की अलग समस्या है। किसी सीमा तक अब यह सुलझ गई है क्योंकि सिंधी भी स्वीकृत भाषाओं में शामिल कर ली गई है।

(७) अँग्रेजी का स्थान विचित्र बन गया है

(८) शिक्षा के माध्यम, कचहरियों की भाषा आदि के प्रश्न भी सामने हैं।

(९) पंजाबी सूबा-विवाद, बहुत कुछ कठिनाइयों के पश्चात्, कुछ समय पूर्व ही समाप्त हुआ था पर कुछ दांव-पेच अब भी चल रहे हैं।

(१०) यदा-कदा उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के विभाजन की बात भी सुनी जाती है। विभाजन का मूल आधार 'भाषा' ही बताई जाती है।

(११) पूरे राष्ट्र को ध्यान में रखते हुए तो कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने हैं ही।

यदि भौगोलिक आधार पर भाषा का अध्ययन हो तो इनमें से कई भौगोलिक अंतर मिटाए जा सकते हैं क्योंकि ऐसा करने में अनेक अवस्थाओं में प्राचीन एकता अथवा स्थानीय एकता सिद्ध करना सम्भव हो सकता है। भाषा की विभिन्नता का वास्तविक रूप भी बताया जा सकता है तथा भाषाओं में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता मिल सकती है।

३. जो व्यक्ति थोड़े ही समय के इतिहास में रुचि रखते हैं उन्हें मूल्यवान सामग्री मिल सकती है। इसी प्रकार उस खण्डविशेष की भी अच्छी जानकारी हो सकती है जहां की भाषा-एटलस तैयार हो गई है।

४. भाषा-भूगोल के द्वारा प्रतिपादित तथ्य अनेक स्थानों में प्राप्त सामग्री पर आधारित होते हैं। सामग्री की इस प्रचुरता के कारण जो भी तथ्य उपस्थित किए जाते हैं उनका प्रामाणिक होना स्वाभाविक है। जो बात एक स्थान पर नहीं मिलती वह अन्य कई स्थानों पर मिल जाती है, और इस प्रकार टूटे प्रसंग भी जोड़कर शृङ्खलाबद्ध किए जा सकते हैं।

यह एक प्रायोगिक विषय है और इस कारण सिद्धान्त-निर्धारण अथवा विवरण देने की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है परन्तु यह कार्य बहुत परिश्रम-साध्य और खर्चीला है और यही कारण है कि इस दिशा में बहुत कम काम हुआ है। किसी सुसंस्थापित संस्था के तत्त्वावधान में ही ऐसी योजनाएँ ली जा सकती हैं—व्यक्तिगत आधार पर इस काम में अधिक प्रगति संभव नहीं होती फिर भी हमारे देश के कई शोधार्थी अपने सीमित साधनों द्वारा इस दिशा में उपयोगी कार्य कर रहे हैं।

६

कोश-विज्ञान

कोश-विज्ञान का अध्ययन करने से पूर्व हमें कुछ आधारभूत बातों का ज्ञान होना चाहिए। यथा—

१. भाषा का स्वरूप विशेष प्रकार का होता है,
२. भाषा लेखन-पद्धति द्वारा परिवर्तित हो जाती है,
३. भाषा एक सामाजिक वस्तु है तथा
४. उच्चारणकर्ता अब भी हैं और पहले से भी रहते आए हैं: हजारों वर्षों से यह क्रम चलता रहा है।

किसी भाषा का निघण्टु तब उपस्थित होता है जब—

(१) बोलने वाला और (२) सुनने वाला दोनों उपस्थित हों। एक प्रकार से उच्चरित भाषा की आवश्यकता ही तब हुई जब वक्ता तथा श्रोता दोनों की स्थिति सम्भव हुई और उन्हें आवश्यकता हुई कि पारस्परिक विनिमय का माध्यम निर्धारित किया जाए। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु विभिन्न शब्दों की अवतारणा की गई। इस शब्द-समूह अथवा कोश का विस्तार किस प्रकार हुआ यह एक लम्बी कहानी है। जब शब्दों का विस्तार प्रचुर मात्रा में हो गया तो उनके अध्ययन की भी आवश्यकता हुई और अति प्राचीन काल से उनका अध्ययन किया जाता रहा है। भारत की यह परम्परा तो प्राचीन ही नहीं गौरवपूर्ण भी है।

वैदिक पाठों को समझने हेतु वैदिक शब्दों के अनेक संग्रह-ग्रन्थ बनाए गए। जब वैदिक भाषा अधिक अपरिचित होने लगी तो इस प्रकार के संग्रहों की अधिक आवश्यकता हुई। इन संग्रहों को निघण्टु संज्ञा दी गई। इन्हें एक प्रकार से वैदिक कोश कहा जा सकता है। अन्तर इतना ही है कि प्रायः कोशों में अर्थ दिया जाता है, इनमें अर्थ नहीं दिया गया है। आज के युग में केवल एक ही निघण्टु उपलब्ध होता है, पर ऐसी आशा

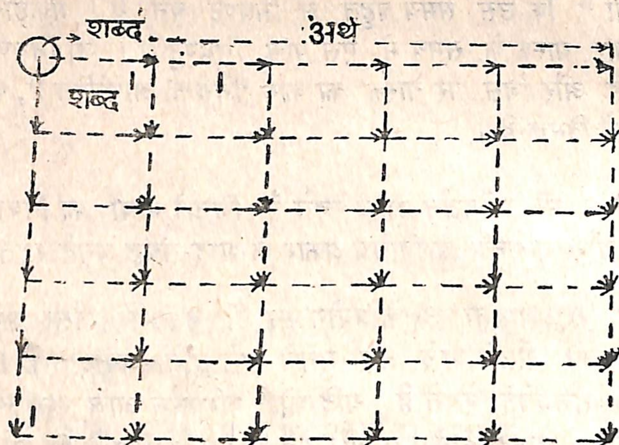
की जाती है कि उस समय बहुत से निघण्टु बने थे। मैकडानेल के कथनानुसार यास्क के समय में ऐसे पांच निघण्टु थे। जो निघण्टु आज उपलब्ध है और जिस पर यास्क का कार्य 'निरुक्त' आधारित है, वह पांच अध्यायों में विभक्त है।

भाषा में भी परिवर्तन होते रहते हैं जिनसे भाषा का विकास होता रहता है और कालान्तर में विभिन्न प्रकार के शब्द-संग्रह बनते रहते हैं।

भाषा की यथार्थता उसके प्रयोग में ही है और जैसा कहा गया है इसके लिए बोलने वाले तथा सुनने वाले दोनों अपेक्षित हैं। शब्दों में प्रायः परिवर्तन होते रहते हैं, यदि कोई परिवर्तन आज स्पष्ट नहीं है तो कालान्तर में देखा जा सकता है और यह भी हो सकता है कि जो परिवर्तन एक स्थान में उपलब्ध न हो वह अन्यत्र रहा हो। साथ ही एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द भी प्रयोग में आते रहे हैं। प्राचीन काल में, संभवतः, यह गति अधिक वेगवती रही होगी क्योंकि परम्परा मौखिक थी और मौखिक परम्परा में शब्दों का स्थायित्व लिखित की अपेक्षा कहीं कम होता है। कोश-निर्माण करने से पूर्व शब्दों का संग्रह करना आवश्यक होता है। यह निश्चय ही है कि शब्दों को एकत्र करने के बहुत दिनों पश्चात् कोश-निर्माण का कार्य हुआ होगा। यह कार्य वास्तव में बहुत कष्टप्रद है और कोशकार को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। काम भी कुछ अधिक मनोरंजक नहीं होता, तभी तो जानसन ने कहा था—

'कोशकार क्लेशकर्मकारी होता है।'

परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन लोगों का कार्य बहुत उपयोगी होता है। यह इन्हीं लोगों के इस कठिन कार्य और सच्ची लगन का परिणाम है कि अनेक प्राचीन शब्दों की रक्षा संभव हो सकी है। यदि कोशों का निर्माण न हो तो अनेक शब्द लुप्त हो जांय और आवश्यकता पड़ने पर प्राचीन शब्दों का प्रयोग समझना एक गंभीर समस्या बन जाय। तुलसी, सूर, जायसी, चंद आदि के कोश इस ओर सहायता करते प्रतीत होते हैं। यदि आज इस कार्य को न किया जाय तो २, ४ सौ वर्षों उपरान्त तो यह साहित्य समाप्त ही समझिए क्योंकि भाषा की गति और शब्दों का परिवर्तन आकृति और अर्थ के विचार से निरंतर चलता है।



सम्भावित स्थिति

शब्द का यह लम्बाकार, कर्णाकार और वृत्ताकार परिवर्तन सर्वदा होता रहता और इस स्थिति को नियंत्रित करने का एकमात्र हल किसी समय विशेष पर प्रचलित शब्दों को 'कोश' रूप में संग्रहीत कर देना होता है। कोशकार का यह कार्य आसान नहीं होता उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसमें उच्च कोटि की योग्यता भी आवश्यक होती है। उदाहरण के लिए—

(१) किसी भाषा विशेष का कोश निर्माण करते समय कोशकार का उस भाषा विषयक ज्ञान इतना ही पूर्ण होना चाहिए जितना उस को स्वाभाविक रूप में प्रयोग करने वाले व्यक्ति का होता है। स्वाभाविक रूप में प्रयोग करने वाला व्यक्ति ही उस भाषा के विविध शब्दों का यथा-तथ्य अर्थ तथा उनका प्रयोग जानता है। हर कोई इससे परिचित नहीं होता अतः जब कोशकार अपना कार्य शुरू करता है तो उसकी योग्यता भी स्वाभाविक रूप में भाषा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति से कम नहीं होनी चाहिए।

(२) कोशकार को यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि जिस समुदाय विशेष की भाषा का कोश बनाया जा रहा है उसमें अनेक व्यक्ति हैं और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति का शब्द-विन्यास अलग हो सकता है। व्यक्तिगत भाषा का अन्तर भी उसके ध्यान देने का विषय होता है परन्तु साथ ही कोश व्यक्तिविशेष के लिए नहीं होता—वह उस समुदाय से

भी आगे बढ़कर उन सभी लोगों के लिए होता है जो किसी भी रूप में उस भाषा के प्रति आकृष्ट हैं—जो उसे पढ़ना और समझना चाहते हैं अथवा जो तुलना आदि के रूप में उसका अध्ययन करना चाहते हैं।

(३) जिस भाषा का कोश बनाया जा रहा है उसकी सभी बोली और उपबोलियों का ज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि बोलियों और उनसे भी सीमित उपबोलियों के अपने अलग कोश तो होते ही नहीं और यदि हों भी तो उनमें तारतम्य बिठाने का कार्य उनकी मूल-भाषा का कोश ही कर सकता है। साथ ही भाषाविशेष में स्थान-स्थान पर संबंधित बोलियों के शब्द भी आ जाते हैं। हिंदी के लेखकों को ही देखिये—आज ही नहीं पहले से ही यह प्रवृत्ति देखी गई है कि लेखक-विशेष किसी या किन्हीं बोली-विशेष से प्रभावित होता है और उसका प्रयोग जाने अनजाने अपनी कृति में कर ही जाता है। केशव में बुंदेलीपन, सूर में आगरापन और जायसी में पूर्वीपन देखे ही जाते हैं। अतः जो किसी भाषा का कोश बना रहा है उसे उस भाषा से संबन्धित सभी बोलियों का ध्यान रखना और उनको जानना आवश्यक हो जाता है।

(४) एक और भी बात है। जहाँ परिनिष्ठित भाषा होती है वहाँ अर्द्धपरिनिष्ठित, निम्न परिनिष्ठित आदि भाषाएँ भी होती हैं अतः केवल परिनिष्ठित भाषामात्र के ज्ञान से काम नहीं चलता। भाषा अनेक स्तरों पर बोली जाती है और जब कोश-निर्माण किया जायगा तो इतने से ही काम नहीं चलेगा कि केवल परिनिष्ठित भाषा के शब्दों की उपलब्धि मात्र हो जाय। ये सभी स्तर इतने मिले-जुले होते हैं कि कोशकार को सभी पर ध्यान रखना पड़ता है। यही कारण है कि कोश-निर्माण करते समय अनेक सहायकों का सक्रिय सहयोग आवश्यक होता है। यह तो सम्भव नहीं होता कि सभी स्तरों के सहायक प्राप्त किए जांय परन्तु इतना तो करना ही पड़ता है कि इन स्तरों की भाषा का सम्यक् ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त किया जाय।

(५) जिस भाषा का कोश प्रस्तुत किया जा रहा है उससे सम्बन्धित अनेक अन्य भाषाओं की जानकारी भी अपेक्षित होती है। कोई भी भाषा किसी भी समय अपने आप में पूर्ण नहीं होती उसे अन्य भाषाओं के शब्द-कोश से सहायता ग्रहण करनी पड़ती है। ये शब्द कुछ तो अपनी

भाषा-विशेष में आ जाते हैं, कुछ को प्रयोगकर्ताओं द्वारा लेने की आवश्यकता पड़ती है और कुछ पारस्परिक आदान-प्रदान के माध्यम द्वारा आते हैं। आज तो यह क्रिया काफी तेजी पर है और जहाँ हमारी आवश्यकताओं के लिए अन्य प्रदेशों, देशों और साधनों की आवश्यकता होती है वहाँ भाषा के लिए भी अनेक भाषाओं का सहयोग वांछनीय है। भारतवर्ष जैसे विशाल देश में जहां देश में ही अनेक भाषाएँ हैं वहां अनेक विदेशी भाषाएँ भी देश का अङ्ग बनकर भाषा में प्रविष्ट हो चुकी हैं और इस प्रकार मिल-जुल गई हैं कि उन्हें दूर करना भाषा के स्वरूप को विकृत करने के समान होगा। डॉ० रघुवीर के कोश में इस प्रकार का किया गया प्रयत्न अनेक लोगों की दृष्टि में हास्यास्पद हुआ। इन प्रचलित और अतिप्रयुक्त शब्दों को हम अलग कर ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में सम्बन्धित भाषाओं का ज्ञान होना भी कोशकार के लिए आवश्यक है और साथ ही उन परिस्थियों का सामान्य परिचय भी जिनमें ये शब्द लम्बी यात्रा के उपरान्त भाषा-विशेष में प्रविष्ट हुए।

(६) विविध भाषा-ज्ञान के अतिरिक्त कोशकार के लिए भाषायी अनुभव भी महत्वपूर्ण होता है। इसी के द्वारा कोशकार को उसके कार्य में दक्षता प्राप्त होती है। कोई भी व्यक्ति जिसे भाषा के साथ लम्बा और पूरा संपर्क नहीं है कोश-निर्माण के उत्तरदायित्व का सम्यक् निर्वाह नहीं कर सकता। एक प्रकार से उस भाषा में निवास करना ही उसे उसके कोश-निर्माण की योग्यता प्रदान करता है। साथ ही भाषा संबन्धी अनेक अन्य अनुभवों का होना भी श्रेयस्कर होता है। उदाहरणार्थ भाषा के विभिन्न स्तरों पर उस भाषा के शब्दों के साथ उसका सम्पर्क रहा हो। गद्य, पद्य, आदि विधाओं में उसकी गति हो। गद्य के अनेक रूपों का उसने अनुशीलन किया हो। पद्य की विविध विधाओं और उनकी शाब्दिकी क्रिया से वह परिचित हो। केवल अर्थ ही नहीं, विविध प्रयोगों, मुहावरों और लोकोक्तियों में प्रयुक्त शब्दों की गतिविधि को भी वह पहिचानता हो। इस प्रकार का गहरा भाषायी अनुभव कोशकार को उसके कार्य में सफलता प्रदान करने का साधन होता है। कहा तो यह जा सकता है कि कोश निर्माण में इतने अनुभव की आवश्यकता होती है कि भाषा और साहित्य के अनेक स्तरों पर कार्य करने के उपरान्त ही उसे कोश कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। कोश, एक प्रकार से, भाषा-विशेष के संचित-साहित्य

का परिशीलन और स्पष्टीकरण होता है और उसके अनेक उपकरणों के साथ कोशकार को इस क्षेत्र में अवतरित होना पड़ता है।

(७) इतना सब कुछ होने पर यह नहीं समझना चाहिए कि भाषा के क्षेत्र पर नियंत्रण नहीं होता। प्रत्येक भाषा का अपना क्षेत्र होता है है और उसकी सीमा का अतिक्रमण करना भी दोष होता है। यह ठीक है कि संबन्धित भाषाओं पर निगाह रखनी पड़ती है पर साथ में यह भी देखना होता है कि उस भाषा-विशेष का स्वयं का क्षेत्र क्या है, उसकी क्या सीमाएँ हैं और किस परिधि में उसका क्रिया-कलाप चलता है। प्रत्येक भाषा के बोलने वालों की भी अपनी सीमाएँ हैं। अतः भाषा, उसके बोलने वाले आदि की सीमाओं पर निगाह रखकर कोशकार को यह कार्य करना चाहिए। साथ ही किस स्थान पर सीमा-संकेत करना है इसकी जानकारी और क्षमता होनी भी आवश्यक है। एक अवस्था ऐसी आ जाती है जहाँ कोशकार को सीमा बतानी पड़ती है। वास्तव में यह कार्य अति दुष्कर है।

एक ही भाषा के छोटे-बड़े अनेक प्रकार के कोश हो सकते हैं। यह देखना पड़ता है कि कोश की सीमा क्या होनी चाहिए और उसमें किस सीमा तक शब्दों को ग्रहण करना चाहिए। छोटे-बड़े कोशों में इसका क्या स्वरूप हो। ये और अन्य अनेक बातें देखनी पड़ती हैं।

इस प्रसङ्ग में कई प्रश्न उठते हैं—

(१) पहला प्रश्न तो यही है कि इन सारी कठिनाइयों और आवश्यकताओं को देखते हुए कोश-निर्माण की आवश्यकता ही क्या है। भाषा अपने परिवर्तनों के साथ कार्य करती ही रहती है। समाज का कार्य रुकता नहीं, विचार-विनिमय होता रहता है। फिर शब्द-कोश क्यों?

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है। शब्द कोश के जहाँ अनेक अन्य उपयोग हैं वहां भाषिकी विश्लेषण आदि की दृष्टि से भी सम्पूर्ण शब्द-संग्रह अति आवश्यक है। भाषा का स्वरूप समझने, उसका विवरण देने और उसका तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक वर्णन उपस्थित करने में शब्दों का ज्ञान आवश्यक है और जहां पूर्णता का प्रश्न आता है—शब्द-कोश की आवश्यकता स्वतः प्रतिपादित हो जाती है।

इससे यह बात निकलती है कि विधिवत् अध्ययन करने हेतु 'सम्पूर्ण कोश' होना चाहिए, जिसमें भाषा के सभी उपकरण और अधिकरण सम्मिलित हों।

(२) अब दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या ऐसी स्थिति सम्भव है। क्या 'सम्पूर्ण कोश' का निर्माण किया जा सकता है? क्या सभी शब्द एकत्र किए जा सकते हैं? 'सभी शब्दों' की बात कुछ असम्भव-सी प्रतीत होती है और यही कहना पड़ता है कि इस आदर्श स्थिति को प्राप्त करना तो सम्भव नहीं हो सकता। यथासम्भव चेष्टा अवश्य की जाती है परन्तु अनेक ऐसे कारण हैं जिनसे आदर्श अवस्था की प्राप्ति आदर्श मात्र ही रहती है उस तक पहुंचना सम्भव नहीं होता। यदि किसी प्रकार यह सम्भव भी हो जाय तो कितने समय के लिए। भाषा तो पग-पग पर बदलती है और क्षण-क्षण में परिवर्द्धित होती है उसे किसी भी सीमा में बांधना किस प्रकार सम्भव हो सकता है। अतः आदर्श-प्राप्ति की सम्भावना प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती।

प्रायः देखा जाता है कि जहाँ भाषा का क्षेत्र बड़ा होता है वहां शब्द-संख्या भी अधिक होती है—इसके कई कारण हैं :—

(१) बड़ा क्षेत्र होने के कारण भाषा-सम्पर्क भी विस्तृत होता है और उसके आधार पर ग्रहीत शब्द-संख्या भी अधिक होनी ही चाहिए।

(२) बोलने वालों की अधिक संख्या के कारण व्यक्तिगत विशेषताओं से भी शब्द-संख्या प्रभावित होती है। व्यक्तिगत विशेषताएँ जितनी अधिक होंगी शब्द-संख्या भी उसी के अनुसार बढ़ेगी।

(३) पारस्परिक आदान-प्रदान में जितनी रुकावट होगी उतना ही शब्दों का क्षेत्र विस्तृत होगा और परिणाम यह निकलेगा कि जब संपूर्ण क्षेत्र लिया जाएगा तो संख्या का अति विस्तृत होना अवश्यंभावी है।

क्षेत्र के अतिरिक्त बोलने वालों की संख्या पर भी शब्दावली निर्भर रहती है—

(१) कभी केवल संख्या ही अधिक हो सकती है।
(२) कभी अधिक जनसंख्या में बोलने वालों के अधिक भाषाई समुदाय हो सकते हैं।
(३) साथ ही व्यक्तिगत विशेषताएँ अधिक हो सकती हैं।

(४) जनसंख्या का अनेक स्थानों से आकर एकत्र होना भी सम्भव हो सकता है—

बम्बई आदि बड़े नगरों की संख्या देखिए। भाषा में बहुत विशेषताएँ मिलेंगी और यदि उन सबको एकत्र कर बम्बई की भाषा -नामक किसी बोली की परिकल्पना की जाय तो शब्द-भण्डार निश्चय रूप से बहुत बड़ा होगा। वैसे सामान्यतः बम्बई की कामकाजी और सामान्य रूप में सम्भाषण की भाषा हिन्दी का ही एक रूप है परन्तु उसकी विविधता द्रष्टव्य है। यह तो एक ऐसे क्षेत्र की भाषा हुई जहाँ बहुत सीमा तक विभिन्न प्रान्तों से एकत्र अस्थायी बोलने वालों की संख्या अधिक है और इस प्रकार की भाषा का शब्द कोश निर्माण करना एक कठिन कार्य है। परन्तु सामान्यतः जिस स्थान की जनसंख्या अधिक होती है वहां भी व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शब्दों की संख्या अधिक होना स्वाभाविक है।

इसके अनुसार भाषा और भाषा की शब्द-संख्या का यह सम्बन्ध निकलता है :—

$$L = \left\{ \begin{array}{l} n = 1 \\ \Sigma \\ n = ?? \end{array} \right. \quad l_n$$

L=भाषा   n बोलने वालों की संख्या

l_n=शब्द-संख्या   1=एक

Σ = सीमा   ?? = एक से अधिक जितने भी हो सकें।

अब देखिए इन शब्दों के अन्दर किस-किस श्रेणी के पद लिए जा सकते हैं—

(१) मुक्त और बद्ध—सभी पद।

(अ) मुक्त जो स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं।

(ब) बद्ध—जो शब्द का अङ्ग मात्र होते हैं।

इसके अतिरिक्त अर्द्ध-बद्ध, अर्द्ध-मुक्त या बद्ध-मुक्त भेद भी होते हैं।

(२) जितने भी शब्द संकेत हैं उनका व्यावहारिक रूप। एक शब्द के अनेक रूप हो सकते हैं। संस्कृत के क्रिया, सर्वनाम, संज्ञा आदि पद रूप-विभिन्नता के कारण काफी मात्रा में हो सकते हैं अतः इनके सभी व्यावहारिक रूप कोश-पदों के अन्तर्गत आते हैं। इन संकेतों को हम s कह सकते हैं।

(३) अतः Ls भाषा के व्यावहारिक संकेतों का समुच्चय शब्दकोश का विषय हुआ।

(४) विभिन्न क्षेत्रों से Ls के अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं। यथा—

$$Ls \rightarrow Ls_1\ Ls_2\ Ls_3\ Ls_4 \ldots\ldots\ldots Ls_n$$

यदि क्षेत्र अति विस्तृत हो तो यह संख्या निरन्तर बढ़ती जायगी। प्रयोग की दृष्टि से यह संख्या साहित्य-निर्माण पर भी निर्भर रहती है और यही कारण है कि विस्तृत साहित्य वाली भाषा का शब्दकोश भी बड़ा होता है।

इसी प्रकार किसी भाषा की अर्थ-समष्टि का निर्धारण होता है। जब कभी कोई कोश पद लिया जाय तो हमें उसके विभिन्न प्रसङ्गों और प्रयोगों में अर्थ देखने पड़ते हैं और इसी कारण S निश्चित न रहकर विकसित हो जाता है और

$$S \rightarrow S_1\ S_2\ S_3\ S_4 \ldots\ldots\ldots S_n$$

आदि स्थितियां दिखाई देती हैं। प्रसङ्ग-स्थिति अर्थ की समष्टि का निर्णय करती है। अतः कोशकार को इन सब में पारङ्गत होना पड़ता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि छोटे और बड़े वर्णों का प्रयोग भी अर्थ में अन्तर उत्पन्न कर देता है। यथा—

die deutche waren für indien

die Deutche waren für indien

पहले का अर्थ—जर्मन भारतीयों के प्रति थे।

दूसरे का अर्थ—जर्मन पदार्थ भारतीयों के हेतु थे।

अर्थ एकान्त में नहीं रहता वह तो प्रसङ्ग में अवस्थित होता है। बिना प्रसङ्ग के कोई भी अर्थ ग्रहण करना सम्भव नहीं होता, साथ ही प्रसङ्गानुकूल अर्थ में अन्तर भी होता रहता है। वास्तविकता तो यह है कि प्रसङ्ग और अर्थ एक दूसरे से इतने सम्बद्ध होते हैं कि दोनों का अलग करना सम्भव ही नहीं। अर्थ प्रसङ्ग-विशेष पर ही निर्भर होता है।

कोशकार को अपने शब्दों का संकलन करते समय अपने उद्देश्य का भी ध्यान रखना होगा। भाषा सम्बन्धी सभी उद्देश्य और समस्याओं का समावेश करना कोशकार के लिए सम्भव नहीं होता अतएव उसे इस

बात का विचार करना पड़ता है कि उसकी सीमाएँ क्या हैं—'किस प्रकार का कोश बनना है' और उसी को आधार मानकर शब्द-संग्रह का कार्य आरम्भ करता है—

कोश—साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, भाषिकी, वैज्ञानिक, विधि-सम्बन्धी, ग्रामीण, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, प्रादेशिक, विभाषी, उच्चारण सम्बन्धी, ऐतिहासिक, तुलनात्मक—आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं।

कार्य-पद्धति—कोशकार की कार्य-पद्धति पर भी किंचित विचार करना उपयोगी होगा। इस प्रसङ्ग में डाक्टर सुमन मङ्गेश कत्रे के निर्देशन में "संस्कृत-कोश" निर्माण करने वाली समिति का स्वरूप हमें इस बात का पता देता है कि कार्य-पद्धति किस प्रकार की है। यहां अनेक प्रसिद्ध विद्वानों के सहयोग से संस्कृत-कोश का कार्य पिछले कई वर्षों से चल रहा है और अगले अनेक वर्षों तक चलेगा–सम्भव है ३५, ४० वर्षों में, यह कोश पूरा हो। शब्दों के लिए उन्हें कितना भटकना पड़ता है और कहां-कहां तक जाना होता है इसका थोड़ा अनुमान इस स्थिति में हो जाता है कि 'प्राचीन आर्य भाषा' के प्रसंग में ऋग्वेदीय भाषा को उसके ईसवी सदी १५०० से पूर्व १८०० ईसवी तक लाना पड़ रहा है। इस बीच में

(१) रूप-विभिन्नता

(२) वृहद् साहित्य—जो भी सम्बन्धित हो

(३) विस्तृत क्षेत्र—भारत और भारत से बाहर

आदि का विचार रखना होगा। पतंजलि के कहे गए इस कथन की भी सार्थकता है 'सप्तद्वीपा वसुमती' और जब हम

१. क्षेत्र

२. समय

दोनों का पूरा विचार रखें तब सम्पूर्ण शब्दावली एकत्र करने की कल्पना की जा सकती है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में शब्द-संग्रह की क्रिया न केवल उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व एशिया में होगी वरन् अब तो सातों महाद्वीपों में इसकी जांच-पड़ताल आवश्यक होगी। यदि A B C D E स्थान हों और V Q X Y Z आदि समय हों तो

A B C D E– – –n में अन्तर हो सकता है

V Q X Y Z– – –n में भी अन्तर मिलेगा

अब यदि A B C D E
V Q X Y Z

आदि के अन्तरों का ध्यान रखा जाय तो कितने प्रकार की व्यवस्थाएँ मिलेंगी इसका अनुमान करना ही कितना कष्टप्रद होता है। परमुटेशन तथा कोम्बिनेशन से अनेक व्यवस्थाएँ निकलती हैं।

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'अश्व' शब्द को लें

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा—अश्व
मध्यकालीन आर्य भाषा—अस्स
आधुनिक आर्य भाषा—(नहीं मिलता)

'घोड़ा' शब्द आ गया < 'घोटक'
(वात्स्यायन द्वारा १००० ई० में उल्लिखित)

अब प्रश्न होता है कि 'अश्व' रूप क्यों हट गया और 'घोटक' कैसे चालू हुआ जब कि

'अश्ववार' शब्द चलता रहा

और आज भी 'सवार' के रूप में विद्यमान है।

। अश्व । और । घोटक । आदि शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग आदि को देखना भी कोशकार का कर्तव्य है। अतः

(५) उसे देखना होता है—शब्द के प्रयोग का विस्तार—

१. कब से प्रयोग होना आरम्भ हुआ ?
२. कब तक प्रयुक्त हुआ ?
३. किन रूपों में लिखा गया ?
४. प्रयोग कब रुक गया ?
५. किस अन्य शब्द को स्थानापन्न बनाया और क्यों ?
६. सम्बन्धित प्रयोग चलते रहे या कैसे ?
७. प्रमुख शब्द का लोप और सम्बन्धित शब्दों का आगे तक प्रयोग किन परिस्थितियों में हुआ ?
८. पर्यायवाची शब्दों की आधुनिक स्थिति क्या है ?

अब एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है—

शब्दों के स्रोत क्या-क्या हो सकते हैं ?

इनमें से अनेक को तो काल्पनिक ही मानना पड़ता है और * से संकेतित

करता पड़ता है। इसका अभिप्राय यह है कि शब्द का प्राचीन अस्तित्व नहीं मिलता।

एक शब्द लीजिए 'अठवारा' इसको अष्टवार से संबन्धित किया जा सकता है और ठीक सा मालूम होता है परन्तु प्राप्त साहित्य में यह शब्द नहीं मिलता।

। अठवारा। < *। अष्ठवारा।

। अष्ट + वार + आ।

दिखाना पड़ता है। भाषा के उन अङ्गों को प्राप्त करना जो किसी शब्द-विशेष का निर्माण करते हैं इसी अनुशीलन के अन्तर्गत आता है। इनके द्वारा स्रोत का पता लगने में सहायता होती है। वार तो ७ ही होते हैं, पर एक से आरम्भ कर उसी पर अन्त करने में आठ दिन हो जाते हैं :—

S M T W Th F Sa S.....

1 2 3 4 5 6 7 8.....

अतः। अठवारा। की कल्पना की जाती है क्योंकि एक बार से उसी वार तक आठ दिन हो जाते हैं। । सतवारा। शब्द सुनाई नहीं पड़ता। अठवारा। सुनाई पड़ता है।

यह कार्य, वास्तव में, बहुत ही कष्टसाध्य है। हमारे सामने प्रायः तीन परिस्थितियां आती हैं—

(१) उच्चरित भाषा—लिखित रूप रहित

(२) उच्चरित भाषा जिसका लिखित रूप भी विद्यमान है

(३) अनुच्चरित भाषा—'मृत', पर जिसका लिखित रूप मिलता है

इनको इस प्रकार दिखाया जा सकता है

$\frac{S}{(१)}$, $\frac{S+W}{(२)}$, $\frac{W}{(३)}$, उदाहरण S—असभ्यों की
S + W—हिन्दी
W—वैदिक

S—उच्चरित भाषा, जिसे अभी तक लिपिबद्ध नहीं किया गया है, साहित्यहीन होती है—कम से कम कोई कृतियां नहीं मिलतीं। यह आवश्यक नहीं कि उच्चरित मात्र भाषा का साहित्य न हो। साहित्य हो सकता है परन्तु इसका रूप नहीं मिलता। इस प्रकार की भाषाओं में शब्द समूह का संग्रह करना बहुत कठिन होता है। न जाने कितने स्थानों और व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करना होता है, मस्तिष्क को विस्मृति-स्मृति के कितने गर्तों से निकलना पड़ता है। शब्दों को संग्रह कर कोश के अनुरूप

बनाना एक भाषिकी नैपुण्य है और कोई भी व्यक्ति इस विद्या में पूर्णता का दावा नहीं कर सकता। परन्तु उच्चरितमात्र भाषा का आधार व्यक्ति होने से कठिनाई का सामना अवश्य करना पड़ता है।

S + W–ऐसी भाषाएँ जो बोली भी जाती हैं और जिनकी लेखन-पद्धति भी विद्यमान है साथ ही लिखित साहित्य भी। संसार के प्रायः सभी सभ्य और विकसित देशों की भाषाओं में यह गुण होता है कि उनके तीनों ही रूप होते हैं—

१ उच्चरित २ लिखित ३ साहित्यिक

ऐसी भाषाओं का, शृङ्खलाबद्ध साहित्य के आधार पर, एक इतिहास भी होता है जिसमें विकास का क्रम स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। प्राचीन इतिहास के साथ-साथ आधुनिक युग में भी वे बोली जाती हैं—उदाहरणार्थ भारतीय आर्य भाषाओं के गत साहित्य पर दृष्टि डालिए और उनका वर्तमान रूप देखिए–प्राचीनता के कुछ अवशेष अवश्य ही प्राप्त होंगे।

W–इन भाषाओं को मृत भाषा कहा जा सकता है। जब किसी भाषा के बोलने वालों की संख्या नगण्य हो जाती है तो उस भाषा का लिखित रूप होने पर उसे 'मृत' संज्ञा प्राप्त होती है। यद्यपि भारतीय आर्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप वैदिक संस्कृत और संस्कृत को साहित्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है परन्तु उच्चरित क्रम न होने से उन्हें इसी सीमा में रखना पड़ता है। संस्कृत और वैदिक सस्कृत को इस प्रकार की भाषा कहते हुए हृदय को ठेस लगना भावमूलक कहा जा सकता है। पाली, प्राकृत, प्राचीन फारसी, अरबी आदि की भी यही दशा है। परन्तु कुछ भाषाएँ तो ऐसी भी हैं जिनका बहुत ही कम साहित्य मिलता है और कहीं-कहीं उनमें आधुनिक दृष्टि से अस्पष्टता देखी जाती है। उनका लिखित स्वरूप होने से वे समझी तो जाती हैं जैसे पाली, संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाएँ परन्तु ये भाषाएँ सामान्य व्यवहार की भाषा नहीं हैं यद्यपि उनका साहित्य विश्व-साहित्य में उच्च स्थान का अधिकारी है। मोहनजोदाड़ो आदि की भाषाएँ ऐसी भी हैं जो लिखित हैं परन्तु अभी तक उनको पूरी तरह से पढ़ा नहीं जा सका है। कुछ देशी-विदेशी विद्वानों ने उन्हें समझने का दावा अवश्य किया है।

कोश-निर्माण में कई एक दृष्टिकोण हो सकते हैं। किसी एक व्यक्ति की भाषा पर भी यह कार्य आधारित किया जा सकता है और अनेक

व्यक्तियों की भाषा पर भी। एक व्यक्ति की भाषा पर आश्रित कोश 'इडियो-लेक्ट' कहलायगा और उस व्यक्ति-विशेष के द्वारा प्रदत्त साहित्य ही इसका आधार होगा। तुलसीकोश, सूरकोश, शेक्सपीयर-डिक्शनरी आदि इसी प्रकार के कार्य हैं और इनके द्वारा किसी भी लेखक को समझने में आसानी हो सकती है। किन्तु इसमें कुछ त्रुटियां भी हैं—

(१) किसी भाषा-विशेष का शब्द-कोश निर्माण करने में एक व्यक्ति का साहित्य हमारी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता। यह न तो अपने में पूर्ण होगा और न विश्वस्त। हमें यह बात बराबर खटकती हुई दिखाई देगी कि हम एक व्यक्ति के आधार पर ही उस भाषा-विशेष के साथ न्याय करने की चेष्टा कर रहे हैं। इस अभाव की पूर्ति हेतु हमें अनेक व्यक्तियों और उनके साहित्य से सम्पर्क स्थापित करना होगा।

(२) कभी हमें हस्तलिखित पुस्तकों को भी आधार मानना पड़ता है। कोई पाठ अनेक शताब्दियों पुराना हो सकता है। यह हस्तलिखित ग्रन्थ—

(१) ग्रन्थ रचयिता द्वारा लिखा हो सकता है
(२) उसके द्वारा किसी अन्य से लिखाया गया हो सकता है।
(३) किसी अन्य ने स्वयं ही लिखा हो

ऐसी स्थिति में हम किस सीमा तक उस लेखक-विशेष का प्रतिनिधित्व प्राप्त कर रहे हैं यह एक विचारणीय प्रश्न हो जाता है।

	बोलने वाला	लिखने वाला	
T पाठ	Spoken A	written A	दोनों एक
	Spoken A	written B	दोनों में एक रचयिता
A रचयिता	Spoken Nil	written C	दोनों अन्य
B अन्य			Copied
C अन्य			प्रतिलिपि

यथा

√	√	×
√	×	×

हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर संभावित पाठ तैयार करना एक अलग ही विषय है और इसे 'पाठालोचन' आदि नामों से संबोधित किया जाता है। किसी एक ही कृति की विभिन्न प्रतियां प्राप्त करने के उपरान्त 'पाठालोचन' के आधार पर स्वीकृत पाठ तैयार किया जाता है। यह अपने में एक अलग विज्ञान है। शब्द कोश के निर्माण हेतु

हमें बहुत-सी सामग्री की आवश्यकता होती है। अनेक रूपान्तर भी हों जिनसे पाठ निर्धारित किया जाय।

किसी एक ही लेखक का पाठ निर्धारण करना ही काफी कठिन हो सकता है क्योंकि—

(१) प्राप्त प्रतियाँ विभिन्न समयों पर लिखी हुई सकती हैं।

—a
—b
—c
—d
—e ↓

(२) प्राप्त प्रतियाँ विभिन्न स्थानों पर भी लिखी हुई हो सकती हैं।

A			
	B	C	
		D	E

आदि अनेक स्थानों की हो सकती है। पोथी अनेक समयों की लिखी हो सकती है—उदाहरण के लिए X कृति

A B C D E———स्थानों की
a b c d e———समयों पर

लिखी हो सकती हैं—

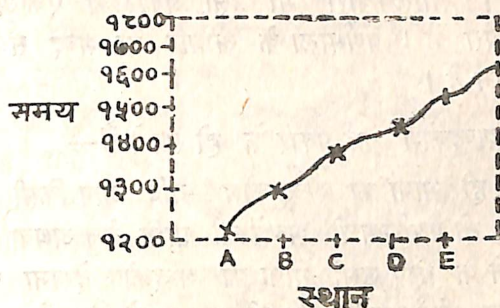
समय (y)	A	B	C	D	E
e	१	२	३	४	५
d	६	७	८	९	१०
c	११	१२	१३	१४	१५
b	१६	१७	१८	१९	२०
a	२१	२२	२३	२४	२५

O A B C D E ———X

स्थान

२५ स्थितियाँ और विभिन्नताएँ तो इसी प्रकार हो जाती हैं।

A तत्व a, b, c, d, e में निरन्तर बदलता है। इसी प्रकार B, C, D और E भी



भारत में हमें निघण्टु प्राप्त होते हैं जिनसे हमें मालूम होता है कि शब्दों की संख्या कितनी विशाल है। अनेक शब्द एक ही प्रसङ्ग में और एक शब्द एक ही प्रसङ्ग में। ऐसा होने का क्या कारण है—

"क्या इन प्रयोगों में कुछ अन्तर था?"

यह प्रश्न स्वतः ही उठता है और इस समस्या का समाधान करना बहुत ही मनोरंजक है। हम यह देख सकते हैं कि—

१. कौन शब्द समानार्थी है।
२. कौन शब्द विभिन्नार्थी हैं।
३. कौन से विलोमअर्थी हैं।

यास्क ने इस ओर काफी प्रयास किया था, और उनका निरुक्त बहुत प्रसिद्ध हुआ। न जाने कितने अन्य निघण्टु रहे होंगे। कालान्तर में इस प्रकार के निघण्टु अन्य भाषाओं के भी बने। प्राचीन समय में जो कोश बनते थे वे एक और ही प्रकार के होते थे। वर्णमाला के अनुसार बनाई जाने वाली "शब्दकोश" के नाम से प्रख्यात कृति एक नवीन ही प्रयास है। और इसके द्वारा किया गया कार्य महत्वपूर्ण है। शब्दों को आधार मानकर पुरानी कृतियाँ

(१) वर्ण
(२) वर्ण-संख्या
(३) पर्यायवाची शब्द

आदि के आधार पर होती थीं। उनके बनाते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि उनको याद रखने में कठिनाई न हो। उनका पाठ छन्दों में निर्मित होता था। "अमरकोश" आदि इसी प्रकार के शब्द-संग्रह हैं। 'खालिकबारी' भी इसी प्रकार का एक अन्य दिशा में किया गया प्रयास है। वर्णमाला के आधार पर शब्द संग्रह की बात अपेक्षाकृत नवीन है।

आधुनिक शब्दकोश कई प्रकार के हो सकते हैं—

अ—एक ही भाषा का शब्द-कोश—यदि आप किसी एक भाषा के बोलने वाले हैं तो पर्यायवाची शब्दों की प्राप्ति हेतु अथवा अनेक शब्दों का अर्थ जानने के लिए उसी भाषा का शब्दकोष देखना पसन्द करेंगे। अथवा यदि आप कोई दूसरी भाषा सीखना चाहते हैं और उसमें डाइरेक्ट प्रणाली का योग चाहते हैं तब भी शब्दकोश एक ही भाषा का होगा। हमें अपनी भाषा का शब्दकोश भी रखना पड़ता है क्योंकि काल के प्रभाव से कुछ बातें पुरानी होती जाती हैं और कुछ नई आने लगती हैं। अतः भाषा का परिचय प्राप्त करने हेतु इन सभी का जानना आवश्यक होता है।

जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता है अ पीछे हट जाता है और उसके स्थान में ब का बाहुल्य हो जाता है और कुछ समय उपरान्त यही गति ब की होती है और तब स का पदार्पण होता है। भाषा के क्षेत्र में यह क्रिया सर्वदा चलती रहती है, कुछ शब्द विलुप्त होते रहते हैं अथवा अप्रचलित हो जाते हैं उनके स्थान में अन्य शब्द आते हैं और उनका भी यही हाल होता है। जानसन ने तभी कहा था कि यह तो एक जाल है, परन्तु कोशकार इस जाल से बच नहीं सकता क्योंकि उसका कार्य भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को समेटे हुए है और उसकी परिभाषाएँ भी इतनी मान्य, स्पष्ट और ग्राह्य होनी चाहिए कि सन्देह के लिए कम से कम स्थान रहे। कोश केवल एक समय या स्थान के लिए नहीं होता; वह तो अनेक देशों और समयों पर देखा जा सकता है।

ब—शब्द-कोश दो भाषाओं का भी हो सकता है जैसे हमारे प्रदेश में अति प्रचलित—

हिन्दी—अंग्रेजी कोश, अथवा

अंग्रेजी–हिन्दी कोश या
संस्कृत–अंग्रेजी; अंग्रेजी–संस्कृत कोश

इन कोशों से यह लाभ होता है कि एक भाषा के शब्द जानने वाला व्यक्ति दूसरी भाषा के शब्द जान सकता है। कभी-कभी इनका बड़ा सुन्दर और मनोरंजक उपयोग भी होता है। अपनी पिछली यूरोप यात्रा में मुझे हालैंड जानने का सुयोग मिला। जर्मन कुमारी डोरिस महल ने अपनी कार द्वारा यह यात्रा कराने का निमंत्रण दिया। मैं कुछ जर्मन जानता था और कुमारी महल कुछ अंग्रेजी–किन्तु सभी शब्दों को एक दूसरे पर प्रकाशित करना संभव नहीं था अतः दो शब्दकोश भी कार में रख लिए गए

(१) जर्मन – अंग्रेजी
(२) अंग्रेजी – जर्मन

शब्द सम्बन्धी जब कोई कठिनाई आती तो हम कह उठते—'लेक्सी कोन !' और कठिनाई हल हो जाती। यहां एक प्रश्न लिपि का भी आता है। सौभाग्य से अंग्रेजी और जर्मन की लिपि में प्रायः समानता है। उमलौट आदि का थोड़ा ज्ञान कर लेने पर और उच्चारण की कुछ विशेषताएँ जानने पर कठिनाई काफी कम हो जाती है। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि लिपि में विभिन्नता हो जैसा अंग्रेजी और भारत की भाषाओं में है। ऐसे अवसरों पर या तो एक ही लिपि में दोनों भाषाओं को लिखा जाता है—जैसा कि भारतवर्ष में प्रचलित अनेक रोमनलिपि कोशों में देखा जा सकता है अन्यथा दोनों लिपियों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए ये द्वि-भाषायी कोश बहुत उपयोगी होते हैं। कभी-कभी तो ये निश्चित रूप से द्वि-भाषिए का काम भी कर देते हैं।

स—अनेक भाषायी शब्दकोष–भारत में इस प्रकार के शब्दकोशों की आवश्यकता और भी अधिक दिखाई देती है। थोड़े ही दिन पूर्व शिक्षा-मंत्री श्री चागला ने कहा था कि तीन भाषा वाला सिद्धान्त अवश्य लागू होना चाहिए—उन्होंने यू० पी० की शिकायत भी की थी कि उत्तर प्रदेश इस कार्य में बहुत पिछड़ा हुआ है। हमारे देश में कुछ ऐसे शब्दकोश भी किसी रूप में आए हैं जिनसे भारत की १४ प्रांतीय भाषाओं का बोध होता है तथा पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। व्यावहारिक रूप

में इन शब्दकोशों का कितना महत्व है यह तो विवादग्रस्त बात हो सकती है परन्तु तुलनात्मक अध्येता को ये शब्दकोश बहुत मूल्यवान हैं। टर्नर के लिखे नैपाली शब्दकोश में भारत की विभिन्न भाषाओं से सम्पर्क स्थापित किया गया है और बहुत-सी भाषाओं के शब्द दिए गए हैं। ये कोश सामान्य जनता की अपेक्षा भाषायी विद्यार्थियों को बहुत उपयोगी हैं। देश में पारस्परिक सहयोग बढ़ाने का सुन्दर कार्य भी, किसी सीमा तक, इनके द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है।

एक भाषायी कोश में कुछ कठिनाइयां आती हैं। वहाँ हमें एक शब्द को उसी भाषा के किसी अन्य शब्द अथवा किसी परिभाषा द्वारा बताना पड़ता है। पर्यायवाची शब्दों की कठिनाई सर्व विदित है और कहा जाता है कि कोई भी दो पर्यायवाची समानार्थी नहीं होते। यदि इसको न भी माना जाय तो कुछ शब्दों को पर्यायवाची से भी समझाना सम्भव नहीं होता, उनकी परिभाषा या विवरण देना पड़ता है और इस कार्य में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। इसमें कई स्थितियां आती हैं—

(१) कुछ ऐसे शब्द हैं जिसका विवरण देना कठिन होता है।

(२) कुछ शब्दों के चित्र देना आवश्यक होता है जैसे सींग, पूँछ, बकरी आदि।

(३) पर्यायवाची शब्दों का चुनाव करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

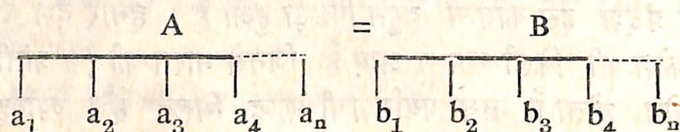
(४) चक्करदार विवरण या घुमा-फिराकर बात कहने की प्रणाली से भी बचना चाहिए।

उदाहरणार्थ—

	शब्द	अर्थ
(१)	A	B देखें
	B	A देखें

यह पद्धति उपयुक्त नहीं कही जा सकती।

(२) पर्यायवाची शब्दों की पद्धति



इसमें प्रसङ्ग देने अपेक्षित होते हैं कि किन परिस्थितियों में प्रमुख शब्द और किनमें पर्यायवाची का प्रयोग होता है। पर्यायवाची केवल किसी एक प्रयोग का समाधान करने वाला हो सकता है अतएव उसे आंशिक पर्याय कह सकते हैं। केवल एक ही अवस्था में

$$A = B$$

अन्यथा

$$A \neq B$$

(३) परिभाषा—अर्थ के लिए शब्द की परिभाषा पद्धति से बचना चाहिए।

अब कुछ उन व्यावहारिक समस्याओं पर विचार किया जाता है जिनकी ओर सामग्री एकत्र करने के उपरान्त कोशकार का ध्यान जाता है। सबसे पहले तो उसे Lexical items अर्थात् शब्द समूह को एकत्र करना पड़ता है। यहां उस कोशकार की बात नहीं कही जा रही है जो किसी बड़े कोश को सामने रखकर एक छोटे कोश की रचना कर देता है अथवा अंग्रेजी का कोश रखकर अंग्रेजी-हिन्दी, संस्कृत·····आदि कोश बना देता है। हम उस कोशकार की बात करते हैं जिसे सामग्री स्वयं एकत्र करनी पड़ती है। इस स्थल पर मुझे जोधपुर निवासी श्री लालस जी का स्मरण होता है जिनके द्वारा एक बृहद् और प्रामाणिक राजस्थानी कोश का संपादन इन दिनों चल रहा है। उन्होंने अपने स्थान पर कुछ टीन रख लिए थे—उनकी संख्या उतनी ही थी जितने राजस्थानी लिखने की लिपि में वर्णों की है। जब कोई शब्द मिलता तो उसे लिखकर उस टीन में डाल देते जिस पर उस शब्द का प्रथम वर्ण लिखा रहता था। इस चिट पर शब्द, उसका विवरण, प्रसंग आदि अंकित रहते थे। राजस्थानी साहित्य का अनेक वर्षों तक निरन्तर अध्ययन करने के उपरान्त उनके पास बहुत-सी सामग्री हो गई और कोश-निर्माण का विचार उनके मस्तिष्क में आया।

शब्द-संचय का कार्य एकान्त में नहीं होता—इसके लिए बहुत लोगों का सहयोग वांछनीय है, अनेक ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है, विविध विषयों का अनुशीलन आवश्यक है। शब्दों को संग्रह करने के उपरान्त दूसरा प्रश्न उनके अर्थ से संबंधित होता है। इस प्रसंग में शब्द और उनके प्रसंग दोनों पर विचार किया जाता है।

L – शब्द

C – प्रसङ्ग

प्रत्येक L के लिए एक विशेष C होता है।

अर्थ अनेक हो सकते हैं $A = x_1\ x_2\ x_3 \ldots\ldots x_n$

$B = y_1\ y_2\ y_3 \ldots\ldots y_n$

$C = z_1\ z_2\ z_3 \ldots\ldots z_n$

और इस संपूर्ण रेंज में हमें एक शब्द विशेष प्राप्त करने की आवश्यकता होगी।

$$M = \begin{cases} C = D \\ \Sigma L \\ C = 1, 2, 3, 4 \ldots n \end{cases}$$

D = वांछनीय
M = अर्थ

कभी-कभी प्रसङ्गों की संख्या बहुत बड़ी हो सकती है। C की बारम्बारिता बहुत कुछ हो सकती है और उसे $x_1\ x_2\ x_3\ x_4 \ldots$
आदि रूपों में देखना होता है। सम्भव है $L \longrightarrow (1)\ x\ (2)\ y\ (3)\ z$
जहाँ x, y, z अर्थ की विभिन्न इकाइयों के समुदाय हैं। अर्थ-शास्त्र के सभी सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के उपरान्त अर्थ-निर्धारण का कार्य सम्पन्न हो पाता है। $L_x\ L_y\ L_z$ सबका एक होना संभव नहीं होता और इनमें भी कई अन्य प्रसङ्ग रहते हैं। अतः

$$L_{x1\ x2\ x3 \ldots x_n} \quad L_{y1\ y2\ y3 \ldots y_n} \quad L_{z1\ z2\ z3 \ldots z_n}$$

स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है।

एक शब्द लीजिए–'काठी'

दो सामान्य अर्थ समाने आते हैं (१) घोड़े या ऊँट पर रखी जाने वाली जीन आदि संबंधी

(२) दूसरों पर आश्रित व्यक्ति

ये दो अर्थ हैं। इनमें से कौन-सा अर्थ लेना चाहिए? क्या 'काठी' शब्द की दृष्टि से /१/ पद है या /२/ पद हैं। जब तक प्रसंग के प्रसंग में न देखें तब तक इसका /१/ या /२/ शब्द होना कठिन प्रतीत होता है। परन्तु यदि इसके इतिहास पर दृष्टिपात करें तो निश्चय करने में कुछ सहायता मिल सकती है। इतिहास से पता लगता है कि इसके दो अर्थ हो गए—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में इसके दो रूप—

काष्ठिक >	काठी	जीन
कष्ठक (यिका) >	कष्टप्रदायक	काठी

जब हम विभिन्न कालों के सजातीयत्व को जोड़ कर उनके पुनर्निर्माण का कार्य करते हैं तो यह, प्रायः, संभव हो जाता है, किन्तु सभी अवस्थाओं में यह नहीं हो पाता--कभी-कभी तो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करना बहुत कठिन हो जाता है। दो शब्द लीजिए--

अद्धा (१) अर्द्ध	अद्ध	अद्द
अद्दा (२) आढ्य	अड्ढ	अद्द

इन दोनों शब्दों के इतिहास का सम्यक् निरीक्षण करने के उपरान्त इनका विकास देखना होगा।

इस कार्य के सम्पादन हेतु कार्ड-पद्धति बहुत कुछ सहायता करती है। ऊपर कहे गए श्री लालस जी का कार्य एक प्रकार इसी पद्धति पर आधारित था, परन्तु इसे अधिक वैज्ञानिक और व्यवस्थित बनाया जा सकता है—

L = शब्द

C = प्रसंग

x, y, z = अर्थ

प्रत्येक शब्द के लिए एक कार्ड होना चाहिए, उसके अनेक प्रसंग हो सकते हैं और एक प्रसंग में कई एक अर्थ हो सकते हैं—

$$L = C_1 \quad C_2 \quad C_3$$

$$\downarrow \quad \downarrow \quad \downarrow$$

$$x_1\, x_2\, x_3 \ldots \quad y_1\, y_2\, y_3 \ldots \quad z_1\, z_2\, z_3 \ldots$$

अथवा

L		
c_1	c_2	c_3
x_1	y_1	z_1
x_2	y_2	z_2
x_3	y_3	z_3

परिस्थिति विशेष का अर्थ—

ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट हो जायगा कि हमें किसी एक समय पर केवल

एक शब्द
एक प्रसंग
एक अर्थ

अपेक्षित होता है।

शब्द के इतिहास से पता चलता है कि

(१) शब्द अतिकाल से चलता हुआ आधुनिक समय तक आ पहुंचा है।

(२) अतिकाल से चलता हुआ बीच में परिवर्तित हो गया।

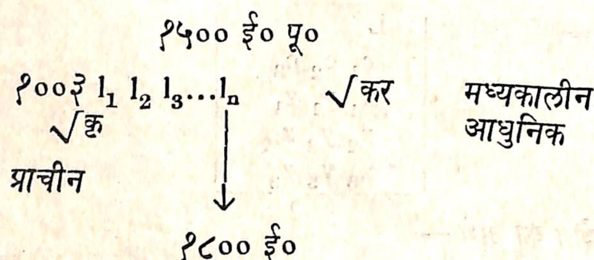
(३) परिवर्तित न होकर किसी अन्य शब्द के द्वारा बदल दिया गया। इन तीनों स्थितियों के उदाहरण—

अ जल→जल→जल→जल (वही)

ब अर्द्ध→अद्ध→अद्द→आधा (परिवर्तित)

स अश्व→अस्स→घोटक→घोड़ा (अन्य)

भाषा की दीर्घकालीन पद्धति के आधार पर हम समकालीन स्थिति पर आते हैं। जैसे D→O (s) जब दीर्घकालीन आगे बढ़ते-बढ़ते अभीप्सित समय पर रोक दी जाय तो समकालीन की प्राप्ति हो जाती है। एक किए गए अनुसन्धान के आधार पर पता लगता है कि √कृ धातु १५०० ई० पू० से १८०० ई० तक १००३ विविध स्थानों में, विविध किन्तु सम्बन्धित अर्थों में पाई गई। यद्यपि MIAऔर NIA में यह √कर में बदल गई परन्तु अर्थ जैसा का तैसा रहा। यह उन शब्दों में से है जो रूप बदल कर अर्थ नहीं बदल सका—



अन्य शब्द लीजिए—

लाना–√नी – √निनीं (मध्य)

– √आ + नी आणीं (मध्य)

हरना–√हृ – अप + √हृ

प्राप्त करना √लभ् ५०० ई० पू०—अब तक

जब हम क्षेत्र के विचार से इसका अध्ययन करते हैं तो यह मालूम होता है कि अर्थ की विभिन्नता और उसकी सीमा में भी स्थान के हिसाब से भेद हो जाता है—

(१) कुछ शब्द सम्पूर्ण क्षेत्र में समानार्थी होते हैं।

(२) कुछ शब्द किसी क्षेत्रविशेष में प्रचलित होते हैं।

(३) कुछ शब्द क्षेत्र के अनुसार अर्थ परिवर्तन भी कर लेते हैं।

(१) सभी क्षेत्रों में प्रचलित शब्द—यथा सूर्य, हवा

(२) क्षेत्रविशेष में जल्दी, सिदौसी

(३) अर्थ परिवर्तन घर (मकान), घर (कमरा)

एक से दिखाई देने वाले शब्दों में भी अंतर करना चाहिए। शब्द बदलते रहते हैं। कभी उनके अवयव बदलते हैं, कभी उनका अन्य शब्दों के साथ संयोग जो जाता है, कभी वे इन संयोगों को अपने में एकाकार करते प्रतीत होते हैं, कभी उनका कोई हिस्सा अलग गिर पड़ता है, कभी दो भाग होकर अपना-अपना अलग इतिहास बनाकर चलने लगते हैं। इनके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। बहुत-सी ऐसी स्थितियां है जिनके प्रति कोशकार को जागरूक रहना पड़ता है। इनमें से केवल एक समस्या को ही लीजिए—

शब्दावयवों का विभाजन

{ विधवा }—(१) | वि | + | धवा | (२) | विध | + |वा|

पतिहीन काटना

पहला ठीक है दूसरा नहीं। परन्तु यदि पहले के अनुसार { माधव } शब्द का विभाजन

| मा | + | धव |

इस प्रकार करें तो अनर्थ हो जायगा। इसका तो किसी अन्य शब्द से ही संबंध है। अतः विभाजन करते समय भी हमें बहुत-सी बातों का ध्यान रखना पड़ेगा—शब्द का प्राचीन इतिहास, प्रयोग आदि देखने होंगे। कुछ शब्द 'बद्ध' रूप में ही पाये जाते हैं 'मुक्त' में नहीं, कुछ 'मुक्त' में है बद्ध में

नहीं। कुछ शब्द स्वतंत्र रूप से नहीं आते—किन्हीं शब्दों के साथ में ही आते हैं।

हैयमगवीना साधारणतः अप्रयुक्त

|—| + / गवीना /

गवीना गव गौ

/ आशितमगवीना /

|—| + / गवीना /

परन्तु अर्थ का पता नहीं लग पाता।

एक और समस्या—यह समस्या विविध भाषाओं के पारस्परिक सम्पर्क की है। किसी भी देश के साहित्य में तीन प्रकार की कृतियां हो सकती हैं—

१. मौलिक

२. टिप्पणियां—महाभाष्य आदि—इनमें भी अर्थ होता है

३. शब्दावलियाँ—अर्थ की अपेक्षा रहती है

यदि कोई शब्द बहुत कम प्रयोग में आता है तो अर्थ की कठिनाई उपस्थित हो जाती है। जब किसी लिखित साहित्य में कोई शब्दविशेष १, २ या अधिक स्थानों में जाता है और उनके अर्थ में अंतर दिखाई देता है तब भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

हो सकता है $L \frown l_1\ l_2\ l_3\ l_4 \ldots\ldots\ldots l_n$ स्थिति में हो। ऐसी अवस्था में समान साहित्य की उपलब्धि कुछ सहायता कर सकती है। इसमें काल, विषय, स्थान, प्रसंग आदि की समानता देखनी पड़ेगी—

यदि

$$l_1 = l_2 \left\{ \begin{array}{l} T - \text{समय} \\ S - \text{विषय} \\ P - \text{स्थान} \\ C - \text{प्रसंग} \end{array} \right\} = (\text{ पूर्णतः समान है })$$

यदि T, S, P, C पूर्णतः समान नहीं हैं, अथवा $\neq$ (समान नहीं) तो $l_1 \neq l_2$ (समान नहीं)।

इसी तरह अन्य प्रकारों के लिए कहा जा सकता है। कोशकार को अन्य भाषा-विद्वानों का सहयोग प्राप्त करना भी उपयोगी है—आवश्यक है। किन्तु उन सहयोगियों का भी इस विषय से संपर्क होना चाहिए ताकि वे भी आवश्यकता का अनुमान लगा सकें और समुचित सहयोग प्रदान कर सकें। अनुमान लगाया गया है कि—

(१) ३०% से ३५% आर्यभाषायी शब्द द्रविड़ तथा आग्नेय हैं
(२) २०% से २५% तमिल भाषा में भारतीय आर्य भाषाओं के शब्द हैं तथा
(३) ४०% से ४५% संस्कृत से लिए गए शब्द हैं।

आज के युग में तो यह आवश्यकता अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। अन्य भाषाओं से शब्द लेने ही पड़ेंगे। यह क्रिया पहले जिस मात्रा में होती थी उससे कई गुनी बढ़कर अब होती है और शायद इसमें वृद्धि होती ही रहेगी। अन्य भाषाओं के शब्द स्वीकार करना किसी भाषाविशेष के लिए लाभकारी ही है। क्योंकि—

(१) हमें अपनी भाषाओं का विकास करना होता है।

(२) हमारी भाषा में जो कमियाँ रह जाती हैं, जो अभाव दिखाई देते हैं—उनकी पूर्ति होनी ही चाहिए।

(३) हम चाहते हैं कि हमारी भाषा की शक्ति हमारे सामने ही, स्थिति का सामना करने के योग्य हो जाय। ऐसी स्थिति में शीघ्रता की दृष्टि से भी अन्य भाषाओं के शब्द लेना ठीक रहता है। यदि हम किसी नए शब्द का निर्माण करें तो उसके प्रचलित होने में बहुत समय लगेगा और हो सकता है कि हम उसका प्रयोग तो कर दें परन्तु वह स्वीकार न हो। ऐसी अवस्था में प्रचलित शब्द लेना हानिकारक नहीं होता।

(४) आज के युग में हमारी आवश्यकताएँ भी बढ़ती जा रही हैं, साहित्य के क्षेत्र का विस्तार हो रहा है, विविध विषयों में भी उन्नति हो रही है। उनकी विधिवत् अभिव्यक्ति के लिए शब्दों की आवश्यकता है और ये शब्द हमें विभिन्न स्रोतों से लेने ही पड़ेंगे।

(५) विधान के अनुसार और अन्यथा भी शब्द स्वीकृति का सर्वोत्तम भंडार संस्कृत ही है परन्तु अन्य भाषाओं के शब्द भी लिए जा सकते हैं।

(६) हमें ऐसे शब्दों का अलग निर्माण करने से क्या लाभ जिनके लिये सरल और प्रचलित शब्द विद्यमान हैं। अतः अन्य भाषाओं के शब्द ग्रहण करना व्यावहारिक दृष्टि से उचित है।

व्यक्तिगत प्रयोगों के द्वारा भाषा का विकास नहीं होता और न शब्द-भांडार में वृद्धि ही होती है। भाषा के शब्द-प्रदायन का कार्य किसी ऐसे माध्यम द्वारा होना चाहिए जो प्रचार और स्वीकृति की दृष्टि से मान्य हो। भारतीय भाषाओं का शब्द-भाण्डार संस्कृत से बढ़ाना बहुत उपयोगी है परन्तु इसमें हास्यास्पद प्रयत्न नहीं किए जाँय। संस्कृत का शब्दकोश जितना

प्रचुर और समृद्ध है. उसे देखकर हमें बहुत कुछ आशा है और केन्द्र में स्थापित शब्द-निर्माण संस्था भी संस्कृत की ओर यथेष्ट रुचि रखती है।

वैसे संस्कृत में भी न जाने कितने स्रोतों से शब्द ग्रहण किए गए होंगे, किन्तु धन्य है उन वैयाकरणों को जिनके द्वारा ग्रहीत शब्द भाषा में इतने घुलमिल गए कि कभी कल्पना भी नहीं होती कि इनका कोई विदेशी स्रोत है। वैयाकरणों ने रूपात्मक दृष्टि से शब्दों का एक ऐसा शुद्धिकरण किया कि विदेशीपन सर्वदा के लिए लुप्त हो गया।

आज के युग में तो शब्द-ग्रहण का कार्य और भी वेग और प्रचुरता से करना पड़ेगा क्योंकि नित्यप्रति नवीन विचारधाराएं चल रही हैं और अनुसंधान भी द्रुतगति से हो रहे हैं—इस सभी ज्ञान-विज्ञान को अपने साहित्य के अंतर्गत लाए बिना हम अन्य देशों की अपेक्षा बहुत पिछड़े रह जायँगे। पर इस प्रक्रिया में हमें कुछ बातों पर विचार भी करना होता है—

(अ) शब्दों को लाते समय अथवा निर्माण करते समय हमें उस वर्ग का ध्यान रखना चाहिए जिसमें यह शब्दावली प्रचलित होगी। डॉ० रघुवीर का कोश अधिक प्रचलित इसी कारण नहीं हो सका क्योंकि उन्होंने उस वर्ग या समुदाय का ध्यान नहीं रखा जिसमें वह शब्द बोला जाने वाला है। उदाहरणार्थ 'रेल', 'टिकट', 'सिगनल,' 'डाक' आदि प्रचलित शब्दों के स्थान पर वर्णनात्मक संस्कृत शब्दावली रखना अधिक आगे नहीं चल सका। इसी प्रकार अन्य भाषाओं से शब्द लेते समय भी हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि किस विदेशी भाषा के शब्दों को अपनाया जाय। यदि यह विकल्प आ जाय कि 'रूसी' भाषा का शब्द लिया जाय या 'अंग्रेजी' भाषा का, तो अंग्रेजी का शब्द स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा क्योंकि रूसी भाषा की अपेक्षा अंग्रेजी का प्रचार हमारे देश में कहीं अधिक है।

नए शब्द बनाते समय इस बात को भी दृष्टिगत रखना ठीक होगा कि जिस कार्य पर किसी भाषा या देशविशेष ने ५००–७०० वर्षों तक कार्य कर एक परंपरा उपस्थित कर दी है उसका यथासंभव हम भी उपयोग करें। कोई कारण नहीं कि हम पुनरावृत्ति कर अपने विकास को पीछे धकेल दें। यह कार्य निरंतर इसी रूप में होता रहा है—इसमें संकोच करने या घबराने की कोई बात नहीं। उत्तर और दक्षिण की भाषाएं दो अलग परिवारों की हैं किन्तु शब्दों का आदान-प्रदान बहुत बड़ी मात्रा में हुआ है। यदि व्यवस्थित तालिका बनाई जाय तो उत्तर भारत की भाषा में दक्षिण भाषाओं

की शब्द-संख्या काफी मिलेगी और दक्षिण भाषाओं में तो उत्तर भाषाओं के शब्द और भी अधिक मिलेंगे।

ग्रहीत शब्दों का अध्ययन भी बड़ा रोचक विषय हो सकता है। इनका तुलानात्मक विवरण भी उपस्थित किया जा सकता है और विवरणात्मक भी। मराठी में ग्रहीत १५०० शब्दों का एक शोध-प्रबंध-प्रस्तुत किया जा चुका है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भी अनुसंधान कार्य हो सकता है। वांछनीय तो यह है कि स्थान-स्थान के शोध-छात्र पूर्णरूप से सर्वेक्षण का कार्य करें और देखें कि पिछले १०० वर्षों में भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों की क्या स्थिति हुई है। यह सारा अध्ययन कोश-विज्ञान के अंतर्गत ही आता है और इस ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस निबन्ध को प्रस्तुत करने में डॉ० एस० एम० कत्रे के व्याख्यानों से मूल्यवान सहायता मिली है।

७

भाषा और संप्रेषण

भाषा का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति तक अपने भाव-विचार पहुँचाने का उपक्रम करता है तो वह, प्रायः, भाषा का प्रयोग करता है। एक प्रकार से 'भाषा' समाज-विनिर्मित युक्ति द्वारा दिया गया वह संदेश-वाहन है जिससे वांछित उद्देश्य की पूर्ति होती समझी जाती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास भी हो सकता है और दूर भी। दूर बैठे व्यक्ति तक संदेश भेजने अथवा प्रसारित करने की युक्ति अपेक्षाकृत नवीन है। पहले तो समीपस्थ व्यक्ति को ही संदेश दिया जा सकता था, और यह क्रिया पारस्परिक वार्ता द्वारा संपादित होती थी। अब तो पत्र, तार, टेलीफ़ोन, बेतार आदि के द्वारा, कम से कम इस भूमण्डल में, संदेश पहुँचाए जा सकते हैं और चेष्टा यह भी चल रही है कि अन्य ग्रहों से भी हमारा संपर्क स्थापित हो। संदेश-वहन की इस क्रिया को जिसमें समीपस्थ तथा दूरस्थ दोनों अवस्थाएँ सम्मिलित हैं 'संप्रेषण-क्रिया' कहा जा सकता है।

हम सभी संप्रेषण में रुचि रखते हैं और उसके महत्त्व को मानते हैं क्योंकि संप्रेषण के अभाव में हमारा नित्य-नियमित काम भी नहीं चल सकता। यह तो हुई सर्वसाधारण की बात पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिन्हें इस क्रिया का विशेष अध्ययन करना पड़ता है। उदाहरण के लिए—

१. संप्रेषण-अभियंता : संप्रेषण से संबंधित अनेक समस्याओं का निराकरण करने हेतु। एक प्रमुख समस्या रही है—विशेष स्थितियों में प्रभावशाली संप्रेषण—जैसे युद्ध आदि के अवसर पर। एक प्रकार से ध्वनि-विज्ञान की आधुनिक प्रणाली और यांत्रिक पद्धतियाँ आदि इसी प्रकार के अन्वेषणों के परिणाम हैं।

२. मनोवैज्ञानिक : बोलने और सुनने—दोनों में—मनोवैज्ञानिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है अतः भाषा और उसकी संदेश-वहन-क्रिया से उसका गहरा संबंध है। संदेश-प्रसारण की प्रभावोत्पादकता उसका एक प्रमुख विषय होता है। संप्रेषण के प्रायः सभी स्तरों पर मनोविज्ञान का योग होता है।

३. समाज-शास्त्री : समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है 'भाषा' और निश्चय ही इसका संप्रेषण एक प्रमुख सामाजिक क्रिया है, इसलिए समाज-शास्त्री भाषा और उसके संप्रेषण में महती रुचि रखता है। समाज का निर्माण विचारों से होता है और विचारों की अभिव्यक्ति भाषा-संप्रेषण पर आधारित है।

४. डॉक्टर, दंत-चिकित्सक : दोनों ही संप्रेषण-पद्धति से संबंधित हैं, एक का संबंध संपूर्ण मानवी शरीर से है और दूसरे का दाँतों से। दाँतों का प्रयोग संप्रेषण प्रणाली में आवश्यक है; दाँतों के होने, न होने, छोटे-बड़े होने, टेढ़े-सीधे होने आदि से संप्रेषण-क्रिया प्रभावित होती है।

५. देश का सुरक्षा दल—किसी देश का सुरक्षा-दल भी संप्रेषण को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है। देश की रक्षा में नियुक्त व्यक्ति समाचार भेजने में ऐसी गोपनीय भाषा का प्रयोग करते हैं जो, बिना किसी अन्य के जाने, निर्दिष्ट स्थान और व्यक्ति तक पहुँच सके तथा निर्दिष्ट कार्य कराने में सफल हो सके। साथ ही यह भी चेष्टा की जाती है कि विपक्ष के समाचार जाने जा सकें और ये समाचार निर्दिष्ट स्थान पर न पहुँच कर बीच में ही विफल कर दिये जाँए। युद्ध के समय रेडिओ पर इस प्रकार के प्रयास देखे जा सकते हैं। सुरक्षा कर्मचारी ऐसी विधियाँ खोजते हैं जिनसे उनका संदेश सफलतापूर्वक पहुँच सके और विपक्षी की संदेश-वहन-क्रिया असफल हो जाए। वायुसेना, नौसेना और थलसेना सभी को इस पर बहुत ध्यान देना पड़ता है तथा सेना का एक विशिष्ट दल इसी कार्य में संलग्न रहता है।

इसी प्रकार बहुत से अन्य व्यक्ति भाषा-संप्रेषण से तो नहीं परन्तु उसके रूप, प्रयोग और प्रभाव से संबंधित होते हैं, जैसे—

१ साहित्यकार—साहित्यिक रचना प्रस्तुत करने में,

२ आलोचक—भाषा-मूल्यांकन में,
३ संगीत निर्देशक—ध्वनि-प्रभाव उत्पन्न करने में,
४ संगीतज्ञ—स्वरों का आरोहावरोह करने में,
५ अभिनेता—प्रभावशाली विचाराभिव्यक्ति एवं प्रौढ़ संवादों में,
६ अध्यापक—सफल अध्यापन प्रणाली में,
७ मां—बच्चे को समझने में,
८ न्यायाधीश—कथित शब्दों के आधार पर मत निश्चित करने में,
९ वकील—अपने पक्ष को समर्थ बनाने में,
१० सेनाध्यक्ष—सफल नेतृत्व में,
११ नेता—जनता को अपनी ओर आकर्षित करने में,
१२ खिलाड़ी—अम्पायर को अपने अनुकूल बनाने में, आदि।

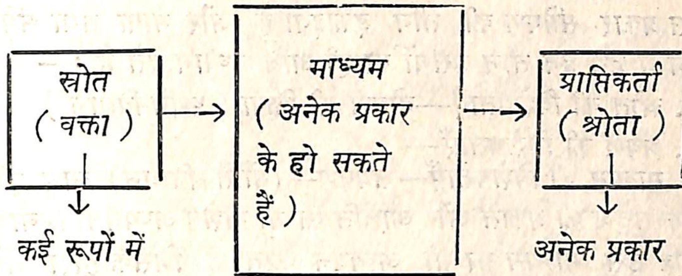
ये, सभी, संप्रेषण-क्रिया से तो इतने संबद्ध नहीं होते परन्तु जो संदेश संज्ञापित किया जाता है उससे तथा उसका जो प्रभाव पड़ता है उससे अवश्य संबंधित होते हैं।

भाषा-ध्वनि-विशेषज्ञ भी इस क्रिया में रुचि रखता है, किन्तु उसका क्षेत्र सीमित होता है और वह भाषा के रूप-निर्माण का विश्लेषण करना चाहता है। उसके अध्ययन का विषय भाषा-संप्रेषण का सैद्धान्तिक पक्ष है।

भाषा-संप्रेषण

भाषा-विश्लेषण	भाषाकृति
सैद्धान्तिक	१. संदेश-संप्रेषण
↓	२. संप्रेषण समस्याएँ
	३. मनोवैज्ञानिक पक्ष
	४. भाषा का
भाषा वैज्ञानिक——→	रूप-निर्माण, तथा पुनर्निमाण

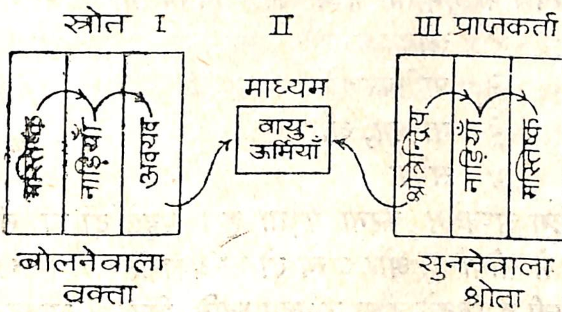
जैसा पहले कहा चुका है संप्रेषण-क्रिया के द्वारा कोई संदेश अन्य (प्रायः निर्दिष्ट) व्यक्ति तक पहुँच कर वांछनीय प्रभाव उत्पन्न करता है। संप्रेषण की यह क्रिया साधारण रूप में, इस प्रकार चित्रित की जा सकती है—



कुछ उदाहरण—

प्रणाली	स्रोत		माध्यम	प्राप्तिकर्ता
१. टेलीफोन	ट्रांसमिटर——→		तार——→	रिसीवर
२. रेडियो	स्टूडियो माइक——→		हवा——→	रेडियो सेट
३. टेपरिकार्डर	दो क्रियाएँ	(१) माइक——→	तार——→	टेप
		(२) टेप——→	तार——→	ध्वनिविस्तारक
४. मनुष्य	”	(१) प्रथम के उच्चारण अवयव→	वायु——→	दूसरे की श्रोत्रेंद्रिय
		(२) श्रोता——→ (श्रोत्रेन्द्रिय)	श्रव्य-स्नायु→ (नाड़ियाँ)	मस्तिष्क

इन प्रणालियों में चतुर्थ प्रणाली बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और पूर्व तीन प्रणालियों का मूलाधार है। इस प्रणाली को इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है—



इस प्रकार संप्रेषण की तीन इकाइयां हैं और भाषा तथा संप्रेषण के अध्ययन में हम इन तीन प्रसंगों पर ही अधिक ध्यान देते हैं :—

१. स्रोत की विशेषताएँ—बोलने की क्रिया (ध्वनि-विज्ञान)

२. श्रवण की विशेषताएँ—

३. माध्यम की विशेषताएँ—संप्रेषण—(भौतिकविज्ञान) साथ ही भाषा-वैज्ञानिक संदेश की प्रकृति और आकृति का भी विशेष अध्ययन करना चाहता है। वह उस माध्यम का भी अध्ययन करता है जिसके द्वारा संदेश का निर्माण होता है। भाषा, भाषा की आकृति, भाषा का प्रभाव—आदि भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में हैं, इसीलिए अन्य क्षेत्रों में काम करने वालों के साथ भाषा-वैज्ञानिक का भी संबंध है और वह संप्रेषण-अभियंता, भौतिकशास्त्री, मनो-वैज्ञानिक आदि की सहायता लेकर अपने विषय का अध्ययन करना चाहता है। उसे अपने कार्य में कई अन्य व्यक्तियों की सहायता भी अपेक्षित होती है। और इसीलिए उसका अध्ययन-क्षेत्र इतना विस्तृत है।

ऐसा कहा गया है कि कान की श्रावकीय क्षमता १६ से २०,००० कंपन प्रति सेकिंड है। साधारणतः यह क्षमता ५० से ३००० तक रहती है—१६ और २०,००० उसकी दोनों ओर की अंतिम सीमाएँ हैं—इन सीमाओं के परे श्रावकी-क्रिया कष्टसाध्य ही नहीं असंभव है। यह सीमा मानवी श्रोत्रेन्द्रिय की है। कुछ प्राणियों की श्रवण-क्षमता इन सीमाओं के बाहर भी है। उदाहरण के लिए कुत्ते की श्रवण-क्षमता १२ तक आती है और इसी-लिए ध्वनियों के सुनने में वह, मनुष्य की अपेक्षा, अधिक सफल होता है। यह अनुभव किया जाता है कि सोते हुए कुत्ते के पास से धीरे से भी निकलने पर पदचाप के कारण कुत्ता जाग जाता है। इसी क्षमता के कारण रात को पहरा देने का काम भी वह अधिक सफलता के साथ कर पाता है। 'श्वान-निद्रा' की बात विद्यार्थियों की आचार-संहिता में भी सम्मिलित है।

भाषा-संप्रेषण के अध्येता को श्रावकी ध्वनि-विज्ञान के अंतर्गत

१ स्रोत
२ प्रासिकरण
३ माध्यम, और
४ संदेश

का अलग-अलग अध्ययन करना पड़ता है। पहले दो का संबंध श्रावकी-ध्वनि-विज्ञान से सीधा है; और अन्य दो का प्रकारांतर से। ध्वनि का स्रोत स्वरतंत्रियाँ होती हैं जिनके द्वारा उत्क्षिप्त ध्वनि, विवर में आकर अनेक प्रकार

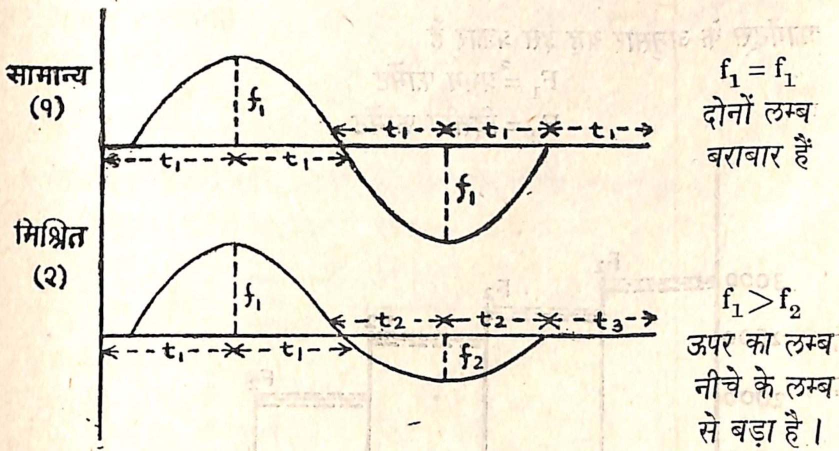
की रुकावटों और टकराहटों के आधार पर विभिन्न रूपों में निःसृत होती है। स्वरतंत्रियों द्वारा प्रसारित यह ध्वनि-कंपन प्रायः दो प्रकार के होते हैं—

(१) सामान्य, और

(२) मिश्रित

जब हम बोलने का कार्य करते हैं तो सामान्य ध्वनि-कंपन से काम नहीं चलता, मिश्रित ध्वनि-कंपनों का ही प्रयोग किया जाता है। यही कारण है कि ध्वनि-विश्लेषण अपेक्षाकृत कठिन होता है। सामान्य तथा मिश्रित ध्वनि-कंपनों को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

सामान्य ध्वनि कंपन—(१) मिश्रित ध्वनि-कंपन (२)

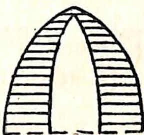


बोलने में स्वर-तंत्रियाँ प्रायः नं० २ के अनुसार कार्य करती हैं अर्थात्

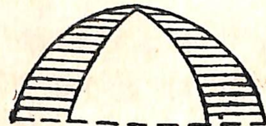
$f_1 = f_1$ नहीं होते

कभी f_1 कभी f_2 कभी f_3, f_4, f_5, f_6.........f_n

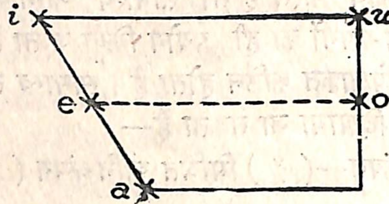
हो जाती है। ध्वनि-विज्ञान में स्वरतंत्रियों की जानकारी भी आवश्यक है। ये स्वरतंत्रियाँ एक प्रकार की मांसल झिल्लियाँ हैं जो खुलती तथा बन्द होती रहती हैं। बन्द रहने पर इनकी आकृति कुछ इस प्रकार की होती है—



खुलने पर इस प्रकार—



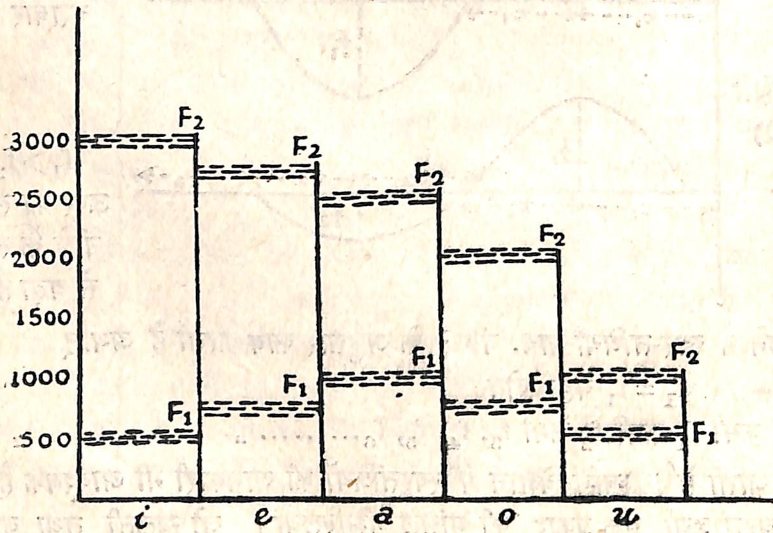
इस विषय पर मिलर नाम के विद्वान ने बहुत सुन्दर कार्य किया है उसने कंपन की बारंबारिता को नाप कर निश्चित अंक दिए हैं। उसने जो हिसाब लगाया उसके हिसाब से प्रमुख स्वर-ध्वनियों की सांख्यिकाएँ इस प्रकार हैं—



फार्मेंट्स के अनुसार यह इस प्रकार है

F_1 = प्रथम फार्मेंट

F_2 = द्वितीय फार्मेंट

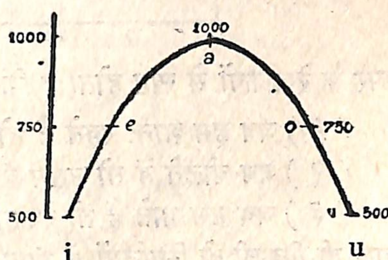


अर्थात्

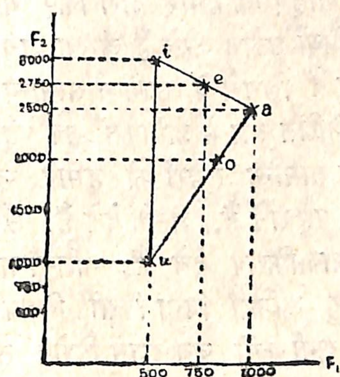
	F_1	F_2
i	500	3000
e	750	2750
a	1000	2500
o	750	2000
u	500	1000

F_2 निरन्तर गिरता है
3000→ 1000

F_1 a में सबसे ऊपर रहता है



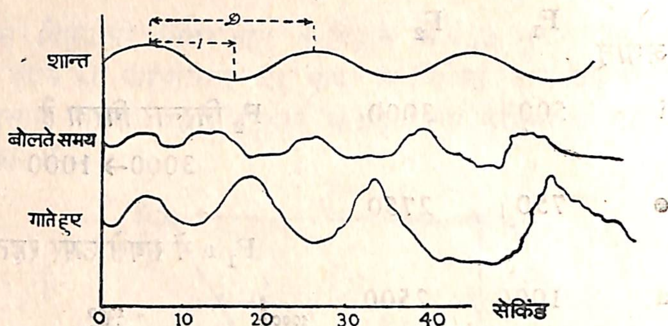
ध्वनि-कंपन की बारंबारिता इस प्रकार भी दिखाई जा सकती है—



हमारी श्वास-क्रिया की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं—

१ शान्त
२ बोलते हुए
३ गाते हुए

रोना, क्रोध करना, चिल्लाना आदि क्रियाएँ भी इन्हीं के अन्तर्गत हैं। कायमोग्राफ पर लिए गए ट्रेसिंग-रेखांकन के अनुसार यह क्रिया इस प्रकार दिखाई देती है—



ऊपर के रेखांकनों से स्पष्ट होता है कि—

(१) जब हम शान्त रहते हैं तो हमारी श्वास-क्रिया सरल होती है,

(२) जब बोलते हैं तो उसमें वक्रता आ जाती है, और

(३) जब हम गाते हैं तो वक्रता और अधिक हो जाती है साथ ही पिछली दो स्थितियों में कंपन भी अधिक होता है।

रेखांकन-पद्धति पर उच्चरित ध्वनियों का विश्लेषण यहाँ अपेक्षित नहीं है। यह अवश्य याद रखना चाहिए कि हमारे द्वारा किए गए ध्वनि-संकेत एक विशेष प्रकार की वायु ऊर्मियाँ उत्पन्न करते हैं अथवा वायु ऊर्मियों में विशिष्ट प्रतिक्रिया नियोजित करते हैं जिनसे ये ऊर्मियाँ सामान्य न रह कर मिश्रित बन जाती हैं, और इस मिश्रित रूप में प्राप्तिकर्ता तक पहुँच कर अपना कार्य संपादित करती हैं—इन सामान्य लहरों को हमारे ध्वनि-संकेत न जाने कितने प्रकार के आघात पहुँचाते हैं, झटके देते हैं, ऊँचा-नीचा करते हैं, चक्करदार बनाते हैं, घुमाव-फिराव देते हैं, गति-संघात करते हैं और न जाने क्या-क्या, पर ये वायु ऊर्मियाँ बिना किसी विशेष प्रतिरोध के हमारा इष्ट संपादित करती हैं, कभी-कभी जब इनमें विशेष तीव्रता होती है तो कुछ बेरुखी दिखाती हैं परन्तु ऐसा बहुत कम अवसरों पर होता है, सामान्यतः हमें इनका सहयोग मिलता ही रहता है।

अनेक प्रकार की ऊर्मियाँ मिलकर एक चक्करदार लहर उत्पन्न करती हैं जिनका विश्लेषण कष्टसाध्य होता है परन्तु फोरियर-विश्लेषण के आधार पर यह संभव है। व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि फोरियर-विश्लेषण की क्रिया भी बहुत श्रमसाध्य है। यह सूचना रणन (resonance) सिद्धान्त के आधार पर भी प्राप्त की जा सकती है। रणन-पद्धति फिल्टर्स पर आधारित है। इस क्रिया में ध्वनिविस्तारक यंत्र की

सहायता से ध्वनि को विद्युत में परिवर्तित किया जाता है और इस प्रकार मिश्रित लहर के विभिन्न भाग निकाले जाते हैं। प्रत्येक भाग के दवाब को डेसीबल में नापा जाता है—डेसीबल ध्वनि-लहर के लम्ब को बनाने के यूनिट हैं और इस समीकरण पर चलते हैं :—

$$d\,b = 10 \log \frac{e_x}{e_o}$$

d b = डेसीबल; e_x ध्वनि शक्ति; e_o संदर्भित शक्ति। व्यवहार में ध्वनित शक्ति न नाप कर ध्वनि दवाब को नापते हैं—

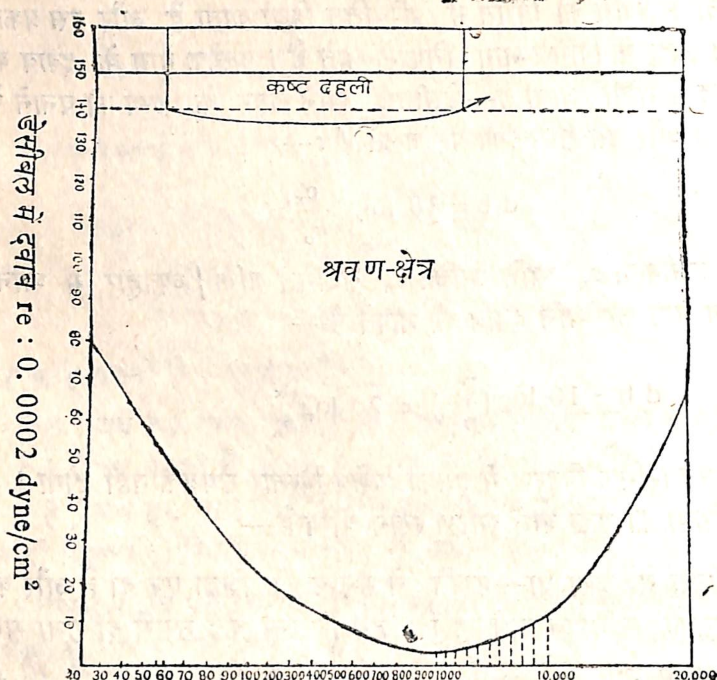
$$d\,b = 10 \log \left(\frac{p_x}{p_o}\right)^2 = 20 \log \frac{p_x}{p_o}$$

इस प्रारंभिक विवरण में इसका विशेष विस्तार उपयुक्त नहीं होगा। ध्वनि-क्रिया की कुछ बातें स्मरण रखने योग्य हैं—

एपिक्टीटस ने कहा था—प्रकृति ने मनुष्य को जिह्वा एक दी है और कान दो—इसका अभिप्राय यही है कि हम जितना कहें उससे दो गुना सुनें। अपनी बात कम कहें, दूसरे की बात अधिक सुनें। भारत में भी इसी बात पर बल दिया जाता रहा है कि हम अपनी जिह्वा का उपयोग कम करें। धर्म में मौन रहने पर बहुत जोर दिया गया है। बहुत से व्यक्ति प्रत्येक दिन कुछ समय के लिए 'मौन' रखते हैं। 'मौनी अमावस्या' एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक तिथि है। पर संप्रेषण-क्रिया में जिह्वा सबसे अधिक काम करती है ; स्वर तथा व्यंजन सभी ध्वनियों में गतिशील रहती है। इसके बाद कान की गणना की जाती है। जिह्वा और कान संप्रेषणक्रिया के दो प्रमुख उपकरण हैं। शाब्दिक संप्रेषण में श्रोता के श्रवण-आधार तीन होते हैं—

(१) स्वर-ध्वनियों के भेद,
(२) व्यक्तिगत अनुभव तथा
(३) चुनाव

पर इसके अतिरिक्त ध्वनि के कुछ कम्पन इतने वेगमय अथवा कुछ इतने धीमे होते हैं कि सुने नहीं जा सकते इसी को श्रवण-देहली कहते हैं। आगे दिए गए चित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है।



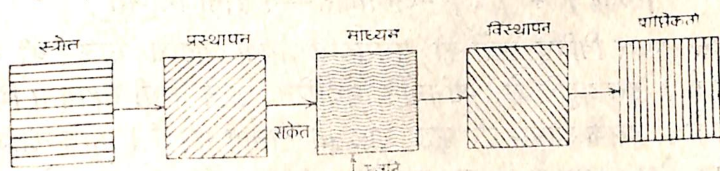
श्रवण-देहली—प्रति सेकिंड कम्पन

जगजीतसिंह नाम के एक विद्वान ने चित्रमय साप्ताहिक के ४ अंकों में भाषा और संप्रेषण संबंधी एक लेख लिखा था। (इलस्ट्रेटेड वीकली मई ३, १०, १७, २४ सन् १९६४) श्री सिंह रेलवे बोर्ड में एक उच्च अधिकारी हैं और कलिंग पुरस्कार के प्रथम एशियाई विजेता। विज्ञान के विषय को सर्वसामान्य के लिए उपयोगी बनाना इन लेखक महोदय की विशेषता है। उनका कहना है—

"भाषा-संप्रेषण की प्रक्रिया बहुत पुरानी है, और मनुष्य को उसके जन्म के साथ प्राप्त होती है। अन्य जीवधारियों को यह क्षमता नहीं मिलती—मानव के जैसे उच्चारण-उपयोगी अवयव अन्य जीवधारियों को मिले ही नहीं हैं। पर भाषा-निर्माण की क्रिया स्वतंत्र होती है। कोई समुदाय अपनी विशेष भाषा बना सकता है, और कोई कारण नहीं कि वह भाषा अन्य किसी समुदाय की भाषा से मेल खाती ही हो।" यही कारण है कि विश्व में विविध भाषा-परिवार देखे जाते हैं। अब तो यह क्रिया मशीनों के द्वारा भी

सम्पादित कराई जाती है। "पैट" नाम की एक मशीन एडिनबरा में प्रदर्शित की जाती है। मशीनें एक दूसरे से विनिमय करती हैं और इस क्रिया के कराने में मनुष्यों जैसी भाषा या ध्वनि संकेतावलि का आश्रय लिया जाता है। कुछ मशीनें तो ऐसी भी हैं जिनमें कुछ बातें प्रस्थापित की जा सकती हैं और यथासमय उनसे काम लिया जा सकता है। ये एक प्रकार से 'स्मरण' शक्ति का स्मरण कराती हैं। आज के युग में मशीनें बोलती हैं, याद कराती हैं, अनुवाद करती हैं—लिखना, हिसाब लगाना और आज्ञा पालन करना तो काफी दिनों से चल रहा है।

जिस प्रकार सामान्य भाषण की क्रिया होती है कुछ इसी प्रकार इस कार्य में संलग्न मशीनों की होती है। पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाता है और मानवी क्रिया-कलाप के अनुसार ही मशीनों द्वारा भी काम लिया जाता है। इनका क्रम नीचे लिखे अनुसार समझा जा सकता है—



संदेशों की सबसे छोटी इकाई वर्णमाला के संकेत हैं। यदि रोमन के सभी २६ संकेत बारंबारिता में बराबर हों तो अंग्रेजी के वर्णों का सूचना-आगार—

$$\log_2{}^{26} \text{ अथवा } 4.7 \text{ बिट}$$

प्रति वर्ण होगा। पर है 4 बिट प्रति वर्ग क्योंकि यह संख्या वास्तविकता पर आधारित है। सच तो यह है कि प्रत्येक वर्ण का सूचना-आगार उसकी आवृत्ति के अनुरूप होता है। इस प्रसंग में हमें पुनरावृत्ति (redundancy) को भी ध्यान में रखना चाहिए। पुनरावृत्ति भाषा की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। इसी के आधार पर शोरगुल होने पर अथवा अन्य कारणों से संदेश के अव्यवस्थित होने पर हम अनुमान और आवृत्ति के क्रम द्वारा किसी भाषा को समझ पाते हैं। कुछ अस्पष्ट होने पर भी वर्ण-संबन्ध हमें स्पष्टता प्रदान करता है। यह देखा गया है कि प्रत्येक भाषा के विशेष वर्णों में एक सम्बन्ध होता है, इस पारस्परिक संबन्ध के आधार पर ही हम किसी भाषाविशेष को, शोरगुल, होने पर भी समझ पाते हैं।

पौनरुक्त्य के आधार पर ही बहुत से संदेश जो गोपनीय होते हैं मालुम किए जा सकते हैं। "गोल्डन बी" की प्रसिद्ध जासूसी कहानी इसका एक अच्छा उदाहरण है। गोपनीय संदेश को मालूम करने में मशीनें भी बहुत काम करती हैं—गुप्तचरों के कार्य में भी इनके द्वारा सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए अँग्रेजी में / q / के पश्चात् / u / का आना एक निश्चित बात है परन्तु / j / के बाद / x / का न आना भी इतना ही निश्चित है। और उसी तरह / tio / के पश्चात् / n / का आना और / oug / के बाद / k / का न आना भी प्रायः निश्चित है—हम कह सकते हैं—

/ q / + / u / = नितांत निश्चित—होना नितांत निश्चित
/ j / + / x /— नितांत अनिश्चित—न होना नितांत निश्चित
/ tio / + / n /— निश्चित—होना निश्चित
/ oug / + / k /—अनिश्चित—न होना निश्चित

इस प्रकार विविध वर्णों की पुनरावृत्ति अथवा आवृत्ति मालुम की जा सकती है। इस प्रवृत्ति से ध्वनिग्राम निर्धारित करने में भी सहायता मिल सकती है। इसके आधार पर कुछ खेल भी बनाए गए हैं। मान लीजिए हमें एक खेल खेलना है जिसका एक वाक्य 129 वर्णों का है इनमें से—

89 वर्णों का ठीक अनुमान लगाया गया
40 वर्णों का अनुमान लगाना है।

89 अनुमान ठीक लगाने से 89 बिट सूचना तो प्राप्त हो गई बाकी 40 वर्णों की सूचना मालुम करनी है। इन वर्णों में अनुमान सफल नहीं हुआ है। जैसा पहले बताया जा चुका है वर्ण के लिए 4 बिट माने जाते हैं अतः

$40 \times 4 = 160$ बिट संज्ञापित किए गए

अतः 129 वर्णों के $89+160 = 249$ बिट प्राप्त हुए।

अर्थात् प्रति वर्ण $\frac{249}{129}$ or 1.93 बिट

प्रति वर्ण लगभग २ बिट। समान बारंबारिता के आधार पर प्रत्येक वर्ण के 4.7 बिट निकलते हैं। अतः इन दोनों का पारस्परिक संबंध $\frac{2}{4.7}$ अर्थात् .42 है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अंग्रेजी भाषा में वर्णों के प्रयोग की स्वतंत्रता 42% है

पुनरुक्ति	58%
स्वतंत्रता	42%

प्रत्येक संदेश की एक सांख्यिकी स्थिति भी होती है। सांख्यिकीकार का कार्य प्रायः मानचित्र निर्माणकर्ता का सा होता है। वह वर्ण, शब्द, ध्वनिग्राम आदि के आधार पर भाषा की औसतें निकालकर संबंधित प्रवृत्तियों के बारे में कह सकता है। इस प्रकार का अध्ययन तब बहुत उपयोगी होता है जब हमारे पास की सामग्री वृहद् मात्रा में होती है। अँग्रेजी ध्वनिग्रामों की आवृत्ति इस प्रकार आँकी जाती है—

	i स्वर तथा संयुक्त स्वर		38%
I	8.53	αi	1.59
ə	4.63	αu	1.30
χ	3.95	ɔ	1.26
ε	3.44	v	0.69
ɒ	2.81	av	0.39
λ	2.33	a	0.44
i	2.12	σ	0.33
e	1.84	ju	0.21
u	1.60	ɔi	0.99
	ii व्यंजन		62%
n	7.24	p	2.04
t	7.13	f	1.84
r	6.80	h	1.81
s	4.55	b	1.81
d	4.31	η	0.94
l	3.74	∫	0.82
ξ	3.42	g	0.74
z	2.97	j	0.60
m	2.78	tς	0.52
k	2.71	dz	0.44
ν	2.28	θ	0.37
ω	2.08	3	0.05

(१) बारंबारिता का अंकन क्रम से किया गया है

(२) यह अंकन अँग्रेजी की सामान्य प्रवृत्ति का है

(३) विशेष परिस्थितियों में बारंबारिता कम या अधिक हो सकती है।

इसी प्रकार शब्दों की आवृत्ति भी अंकित की जा सकती है। मान लीजिए किसी कथन में

क्यों	5000	बार आता है
एक	20,000	बार आता है
था	500	बार ,,
है	1,300	बार ,,
जा रहा	400	बार ,,
कुल	27,200	

अतः क्रमिक बारंबारिता और उसकी आवृत्ति इस प्रकार हुई—

		संभावित आवृत्ति			
एक	20,000	एक	$\frac{20000}{27200}$	$\frac{100}{136}$	73.5%
क्यों	5,000	क्यों	$\frac{5000}{27200}$	$\frac{25}{136}$	18.4%
है	1,300	है	$\frac{1300}{27200}$	$\frac{13}{272}$	4.8%
था	500	था	$\frac{500}{27200}$	$\frac{5}{272}$	1.8%
जा रहा	400	जा रहा	$\frac{400}{27200}$	$\frac{2}{136}$	1.5%
					100%

यह अंतर व्यक्तिगत संप्रेषणों में भी हो सकता है। पश्चिम के विद्वानों ने इस ओर काफी काम किया है। विराम-चिह्नों को भी इस परिकोटि में लिया है और १८ वीं, १९ वीं तथा २० शताब्दी के लेखकों की विराम-चिह्न बारंबारिता को नापा गया है। प्रत्येक शताब्दी के प्रमुख लेखकों को आधार बनाकर यह कार्य किया गया है। शब्दों की गणना; वर्णों का संबन्ध; शब्दों, वर्णों की आवृत्ति आदि भी इसी क्षेत्र के अंतर्गत है। नीचे लिखे अंकन मिलर की पुस्तक पर आधारित हैं—

शताब्दी	लेखक	,	.	;	:	—	( )	---	?	!
१८	डेनियल डीफो :	718	134	121	10	4	3	0	8	2
	रिकार्डसन :	534	161	85	37	65	34	0	33	51
	फील्डिग :	584	198	119	14	22	19	0	28	13
	आस्टिन :	522	270	92	6	31	40	0	2	4
१९	स्कॉट :	687	177	58	1	48	1	0	12	12
	थैकरे :	569	213	64	22	44	20	0	30	3
	डिकिन्स :	583	233	57	12	35	20	0	25	34
	मैरीडिथ :	466	336	58	25	29	4	6	32	44
	हार्डी :	510	323	55	9	41	6	3	31	20
२०	हार्टन :	433	302	65	31	70	7	15	50	27
	वैल्स :	441	337	30	3	53	1	32	30	31
	बैनेट :	440	368	31	20	19	8	7	37	69
	गालसवर्दी :	447	292	61	28	58	5	1	38	70
	थिरकैल :	586	368	4	5	3	2	0	28	9

यह १००० विराम चिह्नों पर आधारित है। इन अंकों के आधार पर अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

- i समय की अभिरुचि
- ii कलात्मक लेखन
- iii वैज्ञानिकता
- iv व्याकरण का प्रभाव
- v संरचना की विशेषताएँ
- vi बलात्मकता
- vii भाषा-गति, शैली—आदि

कहा गया है कि जो भाषा कोई व्यक्ति विशेष बोलता है वह उसके अन्तः-स्वरूप का प्रतीक होता है। संप्रेषण के आधार पर किसी के व्यक्तित्व का पुनर्निमाण भी किया जा सकता है। यह अनेक रूपों में देखा जा सकता है—

१. उच्चारण का अन्तर
२. उतार-चढ़ाव का अन्तर
३. आकृति-रूप-निर्माण की विभिन्नताएँ
४. शब्द-प्रयोग
५. वाक्यों के नमूने
६. बल-प्रयोग

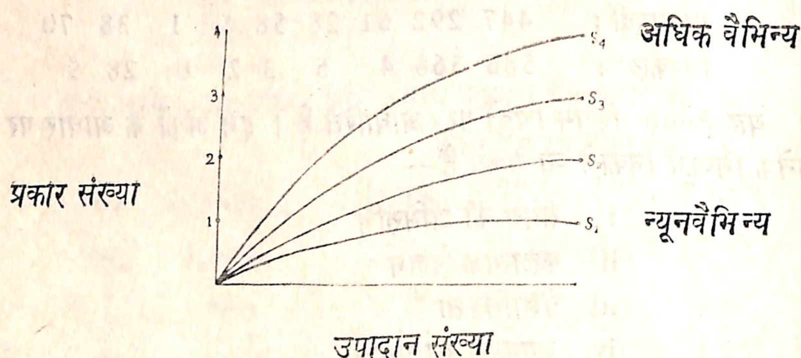
संप्रेषण के ये प्रकार शैली की ओर भी संकेत करते हैं और इस शैली पर व्यक्तिविशेष या समुदायविशेष की छाप कई रूपों में देखी जा सकती है, यथा—

१. बुद्धिमत्ता, ३. अनुभव तथा
२. अवस्था, ४. शिक्षा

भाषा-संप्रेषण में सांख्यिकी अध्ययन भी शैली-निर्धारण में सहायक होता है। इस प्रसंग में Type Token Ratio प्रकार-उपादान-अनुपात, जिसे सामान्यतः TTR कहा जाता है, बहुत सहायक होता है। शाब्दिक-विभिन्नता का यह एक माप है। देखा गया है कि

१ अभिन्न शब्द-कोष का TTR छोटा होता है और
२ विभिन्न शब्द-कोष का TTR बड़ा

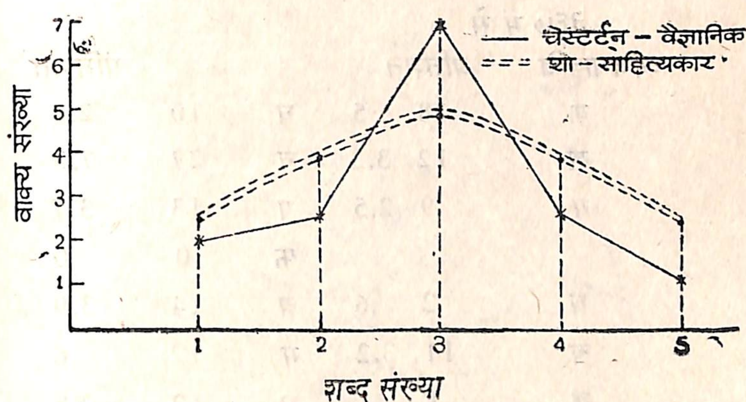
नीचे दिए चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है



उपादान संख्या

शब्दों के अनुसार ही हम वाक्यों की लम्बाई को भी वर्णों की गणना के आधार पर देख सकते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चैस्टर्टन और साहित्यकार शॉ की कृतियों का अध्ययन इस आधार पर किया गया है

वाक्य	शब्द संख्या	वाक्य	शब्द संख्या
2	1	3	1
3	2	4	2
7	3	5	3
2	4	4	4
1	5	3	5



चेस्टरटन की वक्ररेखा नोकीली है और शा की गोल—अर्थात् वैज्ञानिक के वाक्यों में शब्द संख्या अधिक समान होती है और साहित्यकार के वाक्यों की शब्द संख्या अपेक्षाकृत असमान। इसी विधि से हम क्रिया, विशेषण, संज्ञा आदि पदों की गणना कर सकते हैं। यह पद्धति साहित्यालोचन में भी काम दे सकती है।

'प्रतापरासो' नाम के एक ग्रन्थ का विश्लेषण करते हुए मैंने इस पद्धति को कई स्थानों पर अपनाया है। उसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं :—

प्रतापरासो पृष्ठ ७१ स्वर 51.5%
व्यंजन 48.5%

स्वरों की आवृत्ति

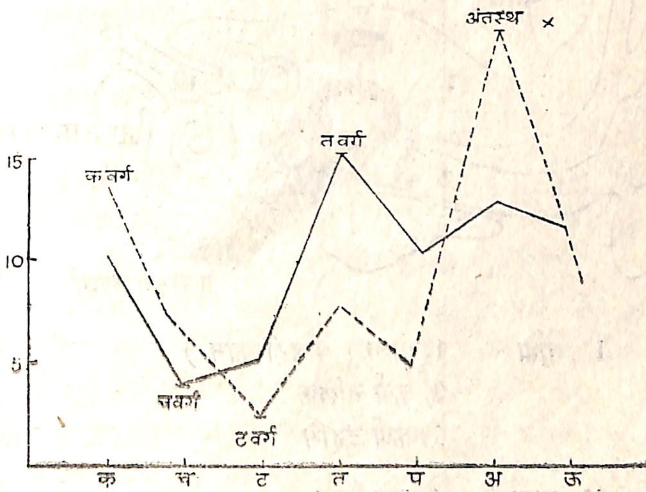
		प्रतिशत			प्रतिशत	
अ	175/370	47.3	अं	7/370	2.1	4.5
आ	41/370	11.1	उं	2/370	.6	
इ	36/370	9.8	इं	3/370	.9	
ई	19/370	5.1				
उ	23/370	6.2	आं	3/370	.9	
ऊ	5/370	1.5	ऋ	1/370	.3	
ए	34/370	9.1				
ओ	17/370	4.6				
ऐ	5/370	1.5				
औ	1/370	.3				

३६७ में से

व्यंजनावृत्ति		प्रतिशत			प्रतिशत
क	18	5	ध	10	2.8
ख	12	3.3	न	27	7.3
ग	9	2.5	प	13	3.7
			फ	0	0
घ	2	.6	ब	14	3.9
च	11	3.2	भ	2	.6
छ	1	.3	म	10	2.8
ज	26	7.2	य	24	6.6
झ	0	0	र	34	9.4
ट	5	1.4	ल	27	7.3
			व	14	3.9
ठ	2	.6	श	0	0
ड	1	.3	ष	1	.3
ढ	0	0	स	37	10
ण	1	.3	ह	16	4.4
त	27	7.3	त्र	2	.6
थ	1	.3	ड़	3	.9
द	16	4.4	ढ़	1	.3

युद्ध विवरण		शान्तिपूर्ण विवरण
च वर्ग	10	14
क वर्ग	4	7
ट वर्ग	5	4
त वर्ग	15	8
प वर्ग	9	6
अन्तस्थ	14	22
ऊष्म	13	9

वक्र रेखाएँ—



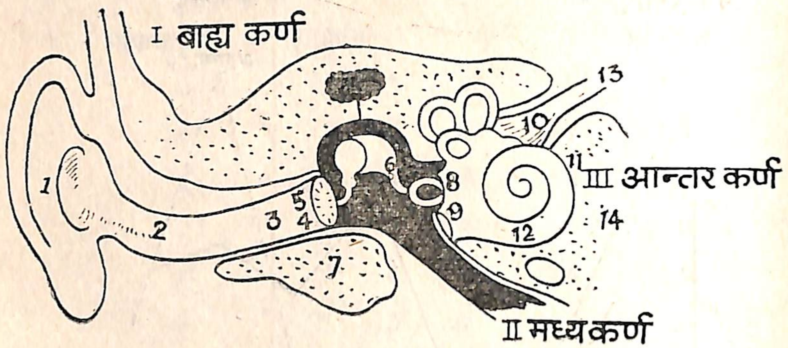
युद्धविवरण	——	शान्तिपूर्ण विवरण ------
उच्चतम	त वर्ग	अन्तस्थ
निम्नतम	च वर्ग	ट वर्ग

वैसे भी यह काव्य में प्रयुक्त वर्णों के गुणानुरूप प्रवृत्ति है। इस प्रकार अनेक बातों का समाधान इस प्रकार के अध्ययन से हो जाता है। छन्द-निर्माण में भी इस प्रकार का अध्ययन विषय से संबन्धित किया जा सकता है। अनेक यूरोपीय भाषाओं में इस प्रकार के कार्य हुए हैं, भारतीय भाषाओं में अभी यह प्रवृत्ति देखने में नहीं आई; हिन्दी में, शायद, मेरा ही अध्ययन इस प्रकार का प्रथम प्रयास है।

इस प्रसंग में कान संबंधी किंचित जानकारी भी उपयोगी होगी। उच्चारण अवयव और श्रोत्रेन्द्रिय दोनों ही, संप्रेषण क्रिया में, समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

श्रवण का प्रमुख माध्यम कान हैं—इसके तीन भाग है—

(१) बाह्य, (२) मध्य और (३) आंतर

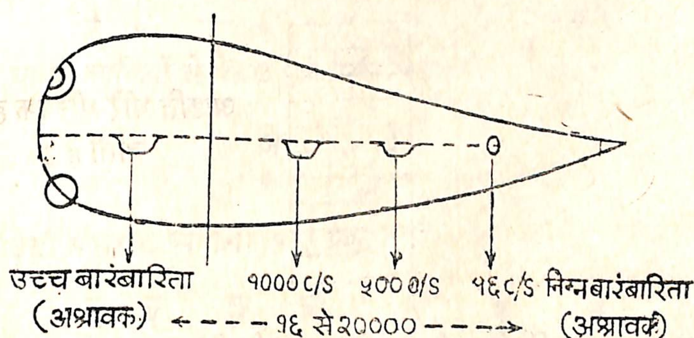


I बाह्य	1. पिना (बाहरी कान)
	2. कर्ण नलिक
	3. कर्ण दुंदभि
II मध्य	4. घन-हैमर
	5. स्थूणा / शूर्मी (अनविल)
	6. धारिणी (स्टिरप)
	7. संबंध नलिक
III आंतर	8. अण्डाकृति-वातायन
	9. गोलाकृति वातायन
	10. अर्द्ध वृत्त कुल्याएँ
	11. शंचूक
	12. प्रवाहित भिल्लिक
	13. स्नायु—शंचूक से मस्तिष्क को
	14. श्रावक स्नायु

वायु-कंपन श्रावक बनकर समझने योग्य बनते हैं। एक प्रकार से बाहरी कान अलंकरण मात्र है इसका उद्देश्य मध्य और आन्तरकर्ण की रक्षा ही हो सकते हैं। कुछ लोग इसके विभिन्न भागों में सिक्के लगा लेते हैं, चश्मा साधने का भी एक अच्छा उपकरण हैं और अलंकारों के लिए तो स्त्री-पुरुष दोनों ने ही इनका उपयोग किया है। नीचे, ऊपर बीच में अलंकार पहने जाते हैं। देखा गया है कि पशुओं का बाह्य कान अधिक उपयोगी होता है क्योंकि वे उसे शब्द-स्रोत की ओर घुमा-फिरा

सकते हैं। घोड़ों और गधों के बाह्य कान को भी देखा जा सकता है। देखा गया है कि जब कोई कुछ कम सुनता है तो हाथ की सहायता से बाहरी कान को शब्द-स्रोत की ओर घुमाता है और शायद इस क्रिया से कुछ अधिक सुन पाता है। पशु तो अपने कान को वैसे ही इधर-उधर घुमा सकते हैं परन्तु मनुष्य को हाथ की सहायता लेनी पड़ती है। ऐसा करने से वायु लहरों से शब्द-कम्पन अधिक मात्रा के प्राप्त होता होगा। मैंने कान घुमाने की यह क्रिया कई सभाओं में देखी है। हमारे एक सहकर्मी हैं, कुछ ऊँचा सुनते हैं और जब कभी माइक आदि की समुचित व्यवस्था नहीं होती है तो वे कान को शब्द-स्रोत की दिशा में हाथ के द्वारा घुमाकर भाषण को सुनने की चेष्टा करते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है गधा, घोड़ा, गाय आदि पशु इस कर्ण-प्रवर्तन क्रिया में अन्य अवयवों का सहारा नहीं लेते—उनके कान स्वतः ही शब्द-दिशा में घूम जाते हैं। 'कान खड़े हो गए' एक मुहावरा भी है जिसका अर्थ होता है कि विचित्र, अद्भुत या महत्त्वपूर्ण बात सुनना। बहुत कम संख्या में ऐसे मनुष्य भी हैं जो कान को हिला-डुला सकते हैं—यह संख्या नगण्य ही समझिए और वे शब्द-ग्रहण के हेतु नहीं चमत्कार दिखाने के लिए ही इस क्रिया को करते देखे गए हैं।

शंचूक को फैलाने से इस प्रकार की आकृति बनती है और उसकी बारंबारिता इस प्रकार अंकित की गई है :—



उच्च बारंबारिता में द्रव पदार्थ तेजी से गतिवान होता है। निम्न बारं-बारिता में संतुलन वैसा ही बना रहता है। यदि निचाई में यह बारं-बारिता १६ परिवृत्त प्रति सेकिंड से कम है तो कोई प्रतिक्रिया होती

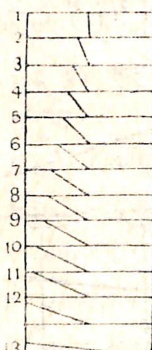
दिखाई नहीं देती। हम तभी सुनते हैं जब यह झिल्ली गतिशील होती है। निचाई में सुनाई देने की अन्तिम सीमा १६ है। कुत्तों में यह १२ ही होती है। इसी प्रकार यदि बारंबारिता २०,००० से ऊपर है तो झिल्ली में कोई गति नहीं होती और सुनने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अतः हमारा श्रवण १६ से २०,००० के बीच में है

------ | 16 ———————— 20,000 | + + + + +
× × × | | × × ×

अश्रावक ←—सुनने की बारंबारिता—→ अश्रावक

यही बात कष्ट-देहली संबन्धी चित्र से भी स्पष्ट करने की चेष्टा की गई थी। इसके मूल में झिल्ली की गतिशीलता है।

ध्वनि-विशेष पूर्व ध्वनि के प्रभाव से लम्बी भी हो जाती है। सुनने की वास्तविक क्रिया में किसी ध्वनि का लम्बा या छोटा होना उससे पूर्व की गई ध्वनि की भौतिक विशेषताओं पर निर्भर होता है। इसका सुन्दर उदाहरण सिनेमा की रील से दिया जा सकता है। सिनेमा फिल्म को देखने पर पता लगता है कि जैसे-जैसे कोई गति विशेष फिल्म पर आगे चलती है वह टेढ़ी होती है जिससे गति-प्रदानत्व क्रिया स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। गति के अनुरूप ध्वनि भी प्रभावित होती है—



आकृति धीरे-धीरे वक्र होती जाती है।

यह सामान्य स्थिति की बात है। किसी भी प्रकार की असामान्य स्थिति में अंतर आना स्वाभाविक ही है।

संप्रेषण के अध्ययन में "बोधन" (information) केन्द्र-बिन्दु है। इस 'बोधन' को किस प्रकार नापा जाय यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

मान लीजिए चार व्यक्ति है अ ब स द
इस चारों व्यक्तियों के बारे में हम कुछ प्रश्न करेंगे जिनका उत्तर
'हाँ' या 'न'
में दिया जायगा। हमारे प्रश्न ये हैं—

(i) वे नर हैं (या नारी) ?
(ii) विवाहित हैं (या अविवाहित) ?
(iii) कार से है (या बेकार) ?

मान लीजिए इन प्रश्नों के जो उत्तर मिले उनसे हमारा निष्कर्ष नीचे लिखे अनुसार है

अ	ब	स	द	
+	+	—	—	(i)
+	—	+	—	(ii)
+	+	—	—	(iii)

\+ हाँ, नर हैं; विवाहित हैं; कार से हैं।
— न, नारी हैं; अविवाहित हैं; बेकार हैं।
अब इन्हीं चार व्यक्तियों से केवल प्रश्न किए

अ	ब	स	द	
+	+	—	—	(i)
+	—	+	—	(ii)

या दो व्यक्तियों से केवल एक प्रश्न किया

अ	ब	
+	—	(i)

इसी प्रकार ८ व्यक्तियों से ३ प्रश्न

अ	ब	स	द	इ	फ	ज	ह
+	+	+	+	—	—	—	—
+	+	—	—	+	+	—	—
+	—	+	—	+	—	+	—

१६ व्यक्तियों से ४ प्रश्न किए जा सकते हैं

अतः	2	4	8	16
	2^1	2^2	2^3	2^4—व्यक्ति
	1	2	3	4 —प्रश्न

यदि प्रश्न संख्या x हो

अथवा 2^x

परिणाम निकला

2^x = व्यक्ति संख्या

x = प्रश्न-संख्या

		$a=2$	2	2
$a^x = y$	(i)	$x = 2$	3	4
		$y = 4$	8	16

a सर्वदा २ रहेगा x = 1, 2, 3, 4, हो सकते हैं।

इसलिए

$$x = \log_y \text{ (i)}$$

अतः बोधन की परिभाषा हुई

$$a = \log_2$$

इस बोधन को जिन इकाइयों के द्वारा नापा जाता है उन्हें 'बिट्' कहा जाता है

१—बारंबारिता को c/s (परिवृत्त प्रति सेकिंड) में नापते हैं
२—बोधन को 'बिट्' में नापते है

बोधन को प्रायः (I) कहा गया है

$$I = \log_2 N \text{ अथवा } 2^I = N$$

यदि $a^x = y$ (i)

$x = \log_a^y$ (ii)

मान लीजिए 4 व्यक्ति हैं तब

$$N^4 = 2^2 = 4; 2^3 = 8, 2^4 = 16$$

अतः बोधन 4, 3, 2, 1 बिट हुआ $2^I=4$

संभाविता को यदि 'p' कहें तो

$p = \frac{1}{N}$ $\quad I = -\log_2 (p)$

$I = \log_2^N$ $\quad \log_a (\frac{1}{x}) = -\log_a^x$

$I = \log \quad (\frac{1}{p})$

$$I = \frac{-(p_1 \log_2 p_1 + p_2 \log_2 p_2 + p_3 \log_2 p_3 + \ldots)}{p_1 + p_2 + p_3 + ----}$$

$p_1 + p_2 + p_3 + ----- = 1$

अतः $I = -(p_1 \log p_1 + p_2 \log p_2 + p_3 \log p_3 + --)$

$\Sigma\ pi \qquad i = 1$

$$I = \sum_{i=1}^{N}$$

कल्पना कीजिए कि स्थितियाँ नीचे अनुसार हैं—

अ̄ ब̄ स̄ द̄		प्रयोग संभावना	
(i)	अ̄ = 2	$\frac{2}{30}$ अथवा	$\frac{1}{15}$ p_1
	ब̄ = 8	$\frac{8}{30}$	$\frac{4}{15}$ p_2
	स̄ = 16	$\frac{16}{30}$	$\frac{8}{15}$ p_3
	द̄ = 4	$\frac{4}{30}$	$\frac{2}{15}$ p_4
	30		

अतः बोधन $I = -(\frac{1}{15} \log \frac{1}{15} + \frac{4}{15} \log \frac{4}{15} + \frac{8}{15} \log \frac{8}{15} + \frac{2}{15} \log \frac{2}{15})$

अब मानिये		प्रयोग संभावना	
(ii)	अ̄ = 8	$\frac{8}{32} = \frac{1}{4}$	
	ब̄ = 8	$\frac{1}{4}$	$p = \frac{1}{4}$ सर्वत्र
	स̄ = 8	$\frac{1}{4}$	
	द̄ = 8	$\frac{1}{4}$	
	32		

$$\frac{अ}{^{n}I} = \frac{8}{32} = \frac{1}{4}$$

बोधन $I = -(\frac{1}{4}\log\frac{1}{4} - \frac{1}{4}\log\frac{1}{4} + \frac{1}{4}\log\frac{1}{4} + \frac{1}{4}\log\frac{1}{4})$

$= -\log\frac{1}{4}$

$= --\log = p.$

अन्य अवस्था (iii) $\bar{अ} = 2$

$\bar{ब} = 8$

$\bar{स} = 16$

$\bar{द} = 6$

32

$N_I = 32$ कुल आवृत्ति

$$I = \frac{\Sigma}{i=1} p_i \log p_i$$

$I = -\log p = \log N = \log 4 = \log = 2^2$

$= +2$ बिट

अतः संबन्धित बोधक$= \frac{I}{I^1} = \frac{1.56}{2} = \cdot 78$

पौनरोक्त्य=संबन्धित बोधन

यदि पौनरोक्त्य शून्य (०) है तो समझना चाहिए

सर्वाधिक अव्यवस्था है

यदि पौनरोक्त्य (१) है तो समझें कि

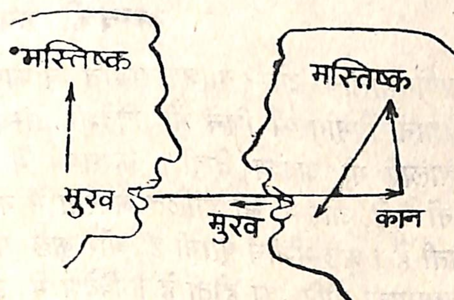
सर्वाधिक व्यवस्था है।

यह प्रायः ०→१ के अन्तर्गत ही सभी भाषाओं में रहती है। पौनरोक्त्य एक प्रकार से वह अन्तर है जो सम्बन्धित बोधन और विभिन्न संभावनाओं में होता है—अर्थात्

$$1 - \frac{I}{I'}$$

भाषा और संप्रेषण के इस संक्षिप्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है भाषा का अध्ययन ध्वनि, वर्ण, शब्द, वाक्य आदि की दृष्टि से जहाँ

एक ओर ध्वनि-लहरों के रूप में किया जाता है वहाँ दूसरी ओर उसका सांख्यिकी अध्ययन भी हो सकता है। भाषा के वास्तविक स्वरूप का पता लगाने में यह क्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। हमारे मुख से उच्चरित ध्वनि तथा कर्ण द्वारा उसका ग्रहण सुसम्बन्धित होते हैं और जैसा मिलर की पुस्तक में दिया गया है ध्वनि-निष्कासन, ध्वनि-ग्रहण, विस्थापन, संस्थापन आदि में पारस्परिक गहरा सम्बन्ध और सहयोग होता है :—



८

आवकी ध्वनि-विज्ञान

इस समय प्रयोगशालीय और यांत्रिक पद्धति का काफी प्रचलन हो चला है। ध्वनि-विज्ञान विभाग की जिन भी विदेशी संस्थाओं को मैंने देखा वहाँ प्रयोगशालाएँ भी अवश्य देखीं। भारतवर्ष में प्रयोगशालाएँ बहुत ही कम स्थानों में हैं, और वे भी चालित अवस्था में न होकर स्थान की शोभामात्र बढ़ाती हैं। कुछ मशीनें पुरानी हैं, और कुछ पर किया गया कार्य, प्रायः, अतिसामान्य कोटि का होता है। विदेश में इस ओर काफी ध्यान दिया जाता है। मुझे लंदन, एडिनबरा, हमबोल्ट, हमबर्ग, कोपेनहेगन, स्टॉकहोल्म, ओसाका, मॉस्को, टोकियो आदि विश्वविद्यालयों की प्रयोगशालाएँ देखने के अवसर मिले हैं और कई स्थानों पर उन में कार्य भी किया है। अपनी पिछली यात्रा में स्टॉकहोल्म विश्वविद्यालय के फोनेटिक्स विभाग में मैंने मिंगोग्राफ मशीन पर काम किया—वहाँ के डॉ० एलर्ट ने मुझे पूरी सहायता दी। मैंने देखा कि इस मशीन पर ग्रहीत ध्वनि का अपने आप अति स्पष्ट चक्षु-ग्राह्य विवरण अंकित हो जाता है। इसके पूर्व वहाँ भी स्पेक्टोग्राफ मशीन ही विशेष रूप से प्रयुक्त होती थी। वहाँ की राजकीय ध्वनि-प्रयोगशाला में ता प्रोफ़ेसर फान्त अनेक प्रकार के प्रयोग कर रहे हैं जिनमें स्वतः अनुवाद भी एक है। मशीनों द्वारा प्राप्त परिणामों में जहाँ स्पष्टीकरण और पुष्टिकरण देखे जाते हैं वहाँ यह भी देखा जाता है कि परिणामों में बहुत अन्तर होता है क्योंकि ये परिणाम—

१. एक व्यक्ति की अपेक्षा दूसरे व्यक्ति से
२. एक समय की अपेक्षा दूसरे समय में
३. एक परिस्थिति से भिन्न अन्य परिस्थिति में

बहुत कुछ अन्तर रख सकते हैं। इन यन्त्रों के प्रचालन में काफी बातों का ध्यान रखा जाता है जिनका संक्षिप्त वर्णन 'प्रयोगशालीय पद्धति' नाम के

पाठ में किया गया है। इसी बात को देखकर तो बहुत से ध्वनि-शास्त्रियों का कहना है कि मशीन पर प्राप्त परिणाम अधिक विश्वसनीय नहीं होते। यांत्रिक परिणामों के आधार पर सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। यंत्रों द्वारा प्राप्त जो भी विवरण दिए जाते हैं उनकी अनेक सीमाओं का संकेत करना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि

श्रावकी ध्वनि-विज्ञान

का बीजारोपण किया गया। इस विज्ञान के अन्तर्गत भौतिकी विज्ञान की उस शाखा को लिया जाता है जो 'भेदकरी माप' पर आधारित है। हम प्राप्त सामग्री के अन्तरों और भेदों पर एक-एक करके विचार करते हैं और उसके उन तुलनात्मक रूपों से देखते हैं जिनका सम्बन्ध—

१. ओठों की गुलाई
२. मुख विवर के खुलने, तथा
३. बल-प्रयोग

आदि से है।

व्यतिरिक्त लक्षण—ध्वनि की विविधताओं पर आधारित विभिन्न ध्वनियों के अन्तर को 'व्यतिरिक्त लक्षण' कहा जा सकता सकता है। श्रावकी ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन में यही आधार मुख्य रूप से माना जाता है और इसी को ग्रहण कर ध्वनि के स्वरूप का विवरण उपस्थित किया जाता है। वैसे विवरण देने के कई आधार हो सकते हैं—

१. उच्चारण सम्बन्धी—उच्चारणात्मक
२. विभावन सम्बन्धी—विभावनात्मक
३. भेदकरी—श्रावकी

उच्चारणात्मक विवरण में कई कमियाँ हैं, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। उदाहरण के लिए /अ/ अथवा /इ/ ध्वनि को लीजिए। ओठों की विभिन्न आकृतियाँ, गोलाइयाँ रख कर भी इन ध्वनियों को बोला जा सकता है। दाँतों को दबाकर भी इनका उच्चारण कर सकते हैं और अन्यथा भी। ये दोनों ध्वनियाँ /अ/, /इ/

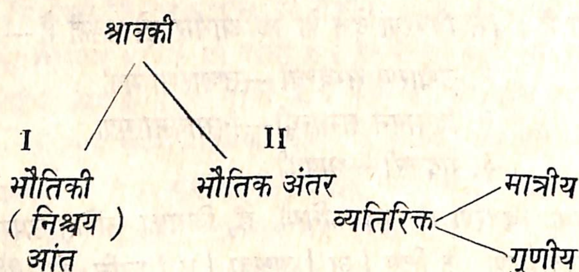
i दाँतों को दबाकर
ii ओठों को फैलाकर
iii जिह्वा को अधिक ऊँचा करके

iv दाँतों को खोलकर
v ओठों को संकुचित कर
vi जिह्वा को नीचा कर

आदि अवस्थाओं में भी बोली जा सकती हैं। इस प्रकार के अनेक अन्तर होते हुए भी इन्हें बोलना संभव है। अतः उच्चारण की दृष्टि से इनका विवरण एक परम्परा का पालन करना-सा दिखाई देता है,—विवरण में किसी प्रकार की दृढ़ता लक्षित नहीं होती। जो परम्परा चल निकली है उसी प्रकार बोलते हैं और उसी का विवरण प्रस्तुत किया जाता है—यह अवश्य है कि उस प्रकार बोलने में आसानी होती है, कुछ स्वाभाविक-सा लगता है पर इसका कारण उस प्रकार का अभ्यास भी हो सकता है। अतः उच्चारणात्मक आधार अधिक वैज्ञानिक और निश्चित प्रतीत नहीं होता।

विभावनात्मक—श्रवणेन्द्रिय की दृष्टि से जिन प्राप्त अनुभवों को विवरण का आधार बनाया जा सकता है उन पर अभी तक यथेष्ट अनुसंधान नहीं हुआ है और एक विशेषज्ञ की दृष्टि से उस संबंध में निश्चियात्मक बातें कहना अभी संभव नहीं है। अतः विवरण की यह पद्धति भी पूरा समाधान करने की क्षमता नहीं रखती।

श्रावकी—जहां तक श्रावकी का प्रश्न है इसके दो पहलू हैं—



आंत पद्धतियों पर काफी समय से, कुछ विद्वानों के अनुसार लगभग २०० वर्षों से, काम किया जा रहा है—उनमें आगे बढ़ाने का अब कोई अवसर नहीं है—जो भी परिणाम निकले हैं उन्हें अन्तिम कह दिया गया है किन्तु ये 'आंत' परिणाम भाषा-विशेषज्ञ को लाभकारी सिद्ध नहीं हुए। वास्तविकता तो यह है कि ध्वनि के प्रसंग में हमें गुणीय अंतर की आवश्यकता होती है क्योंकि संप्रेषणीयता में इस प्रकार के अंतर ही उपयोगी

हो सकते हैं। इस पद्धति में वक्ता की व्यक्तिगत बातें नहीं ली जातीं—अध्ययन को विभिन्न अंतरों तक ही सीमित रखना पड़ता है। अतः "श्रावकी" वह विज्ञान है जिसमें ध्वनि संबंधी वह संपूर्ण सामग्री ली जाती है जो गति संचालन के भेदकरी-गुणीय मापों पर आधारित है। इस प्रकार तीनों पद्धतियों के बारे में नीचे लिखे निष्कर्ष निकलते हैं—

१. उच्चारणात्मक विवरण निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि उच्चारण अवयवों को विभिन्न स्थानों में रखकर भी हम वे ही ध्वनियाँ निकाल सकते हैं जो परम्परा के अनुसार कोई विशिष्ट विवरण रखती हैं।

२. विभावनात्मक पद्धति भी सभी ध्वनियाँ का विवरण देने में सफल नहीं हो सकती। साथ ही विभावनात्मक पद्धति के शब्द-भण्डार और तत्सम्बन्धी ज्ञान भी सीमित हैं। भौतिक और मानसिक दोनों ही स्तरों पर इसकी संकुचित सीमाएँ हैं और मन भौतिकी तो अभी शैशवावस्था में ही है। गणित में प्रयुक्त पद्धति को भी क्रियान्वित नहीं किया जा सकता।

३. श्रावकी—

(१) भौतिक विज्ञान में श्रावकी क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है।

(२) इसमें गणित पद्धति का प्रयोग सफलता के साथ किया जा सकता है

(३) भौतिकी विज्ञान की यह एक अति विकसित शाखा है तथा इसमें वाक् ध्वनि को गणित के संकेतों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, तथा विवरण नितांत वैज्ञानिक और सर्वथा व्यवस्थित हो सकता है।

अब 'ध्वनि' के बारे में कुछ आवश्यक जानकारी दी जा रही है।

भौतिकी दृष्टि से कोई भी 'कम्पन' सामान्य रूप में 'ध्वनि' कहा जा सकता है। वह कम्पन

१. वांछनीय हो सकता है। जब वांछनीय होगा तो इसकी संज्ञा व्यक्त 'ध्वनि' होगी जिसके द्वारा पारस्परिक विचाराभिव्यक्ति सम्भव होती है।

२. यह कम्पन अवांछनीय भी हो सकता है। तब इसे 'कोलाहल' या 'शोर' कहा जा सकता है और इस अवस्था में यह प्रभावकारी अभिव्यक्ति में बाधक हो सकता है।

— ३. इसका एक लक्षण 'आह्लादकारक' होना भी हो सकता है और तब इसे संगीतात्मक स्वरलहरी का द्योतक समझा जाता है। यह व्यक्तियों के संगीतात्मक ज्ञान पर निर्भर होता है।

४. यदि विपरीत हो तो "अनाह्लादकारक" अथवा संगीत-विहीन भी हो सकता है।

सामान्य रूप से हमारा संबंध वांछनीय ध्वनियों से होता है। वांछनीय ध्वनियों में ३, ४ बातों का होना आवश्यक होता है—

१. संक्षिप्तता
२. प्रभावपूर्णता
३. कम समय में बोले जाने वाली, तथा
४. संप्रेषण के उपयुक्त होना

यह सत्य है कि ये सभी बातें सापेक्षिक हैं। वांछनीय ध्वनियाँ—

(अ) ऐसी वाक् ध्वनियाँ होती है जो सार्थक हों, तथा
(आ) जिनका उपयोग प्रेषणीयता हेतु किया जाता हो।

इन दोनों बातों से हीन ध्वनियाँ केवल 'कोलाहल' हैं।

इस प्रकार हम वाणी के श्रावकी रूप तक पहुँचते हैं। अब इनका यथेष्ट अध्ययन किया जाने लगा है। सभी ध्वनियों का अध्ययन तो एक बहुत ही विस्तृत विषय है—यहाँ संप्रेषण की दृष्टि से उसके केवल एक रूप 'भाषा' पर कुछ विचार किया जायगा।

श्रावकी सिद्धान्त ध्वनियों का विवरण प्रस्तुत नहीं करता वरन् भाषा-विशेष के अन्तर्गत पाई जाने वाली विभिन्नताओं को उपस्थित करता है—तभी इसको 'भेदकरी माप' का नाम भी दिया जाता है। हमारी श्रवणेन्द्रिय की सीमाओं के कारण ध्वनियों का विवरण प्रस्तुत करने में भौतिकी सीमाएँ निर्धारित-सी प्रतीत होती हैं। किन्तु चेष्टा इस बात की करनी चाहिए कि विभिन्नताओं को इतना कम किया जाए कि उनका वर्णन सरलता से संभव हो सके।

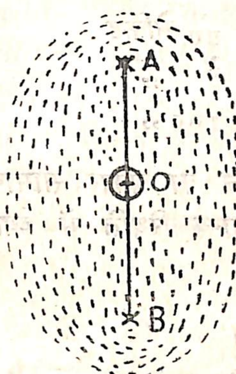
यह पहले कहा जा चुका है कि किसी भी भौतिकी माध्यम का कम्पन ध्वनि कहा जा सकता है। मानवी ध्वनियों का कम्पन १६ आवर्तन प्रति सेकिंड से २०,००० प्रति सेकिंड होता है—यही मानवी ध्वनि की सीमाएँ भी कही जा सकती है। श्रवणोपयुक्त ध्वनि इसी सीमा में अवस्थित होती

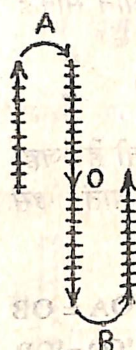
है और संप्रेषण में भी इसी बारंबारिता को देखा जाता है। मानव के अतिरिक्त कुछ ऐसे जीव भी हैं जिनमें यह सीमा और भी अधिक होती है। उदाहरणार्थ कुत्तों में यह १२ प्रति सेकिंड से ३०,००० प्रति सेकिंड तक रहती है

	16 आ० प्र० से०	20,000 आ० प्र० से०
मानवी	[———————]	
श्वानीय	[——————————]	
	12 आ० प्र० से०	30,000 आ० प्र० से०

यही कारण है कि पुलिसदल अपने बहुत से कार्यों में कुत्तों का उपयोग करते हैं।

अब 'कम्पन' के सम्बन्ध में कुछ जानकारी दी जा रही है—





O→ B→ O→ A→ O
एक कम्पन होता है

अणु O से B तक जाता है और फिर B से लौट कर O पर होता हुआ A तक, और वापिस O तक—इसे एक पूरा चक्र कहते हैं इस प्रकार एक पूर्ण चक्र या आवर्तन का विवरण इस प्रकार है—

$\overrightarrow{OB}$	मान लीजिए	t_1	सेकिंड लेती है
$\overrightarrow{BO}$	,,	t_1	,,
$\overrightarrow{OA}$	,,	t_1	,,
$\overrightarrow{AO}$	,,	t_1	,,
		$4\,t_1$	या कहिए T

यहाँ O B = O A

यह एक पूर्ण चक्र का गति-विवरण है और इससे हमें नीचे लिखी बातें मिलती हैं

(१) कम्पन का पूरा समय 4 t_1 अर्थात् T
(२) कम्पन की बारंबारिता $\frac{1}{T}$ चक्र प्रति सेकिंड
(३) कम्पन की लम्बाई OA अथवा O B.

समय की अवधि प्रायः 1 सेकिंड से कम होती है। अतः बारंबारिता 1 से अधिक होती है—उदाहरण

"f" बारंबारिता	"T" समय
२० प्रति सेकिंड	$\frac{1}{20}$ सेकिंड
5 "	$\frac{1}{5}$ "
100 "	$\frac{1}{100}$ "

यह व्यवस्था वहाँ होती है जहां कम्पन का प्रकार सामान्य होता है तथा कोई भी अन्य बातें इस सामान्य स्थिति में व्याघात उत्पन्न नहीं करतीं।

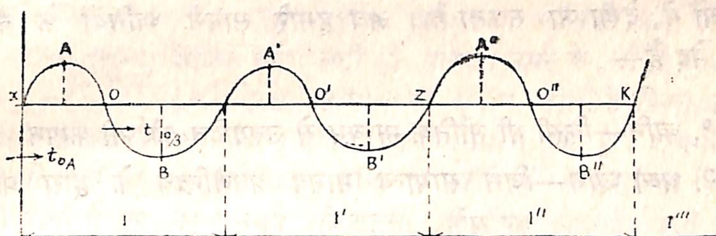
अर्थात् यदि OA = OB (i)
और यदि $^{t}OA = {^{t}OB}$ (ii)

यह एक सामान्य कम्पन की अवस्था है, जिसे सिम्यू सोइडल कम्पन अथवा 'ध्वनि' कहते हैं। परन्तु जब हम वास्तविक रूप में बोलते हैं तो ध्वनि की यह व्यवस्था देखने में नहीं आती। बोलने के काम में आने वाली ध्वनियाँ अनेक प्रकार के कम्पनों का मिश्रण होती हैं और हमें सामान्य के स्थान पर मिश्रित कम्पनों का अध्ययन करना पड़ता है। अर्थात् उस अवस्था में—

तथा (i) $O A \neq O B$
(ii) $^{t}O A \neq {^{t}O B}$

जब ऐसी स्थिति होती है तो मिश्रित कम्पन या ध्वनि उपस्थित हो जाती है।

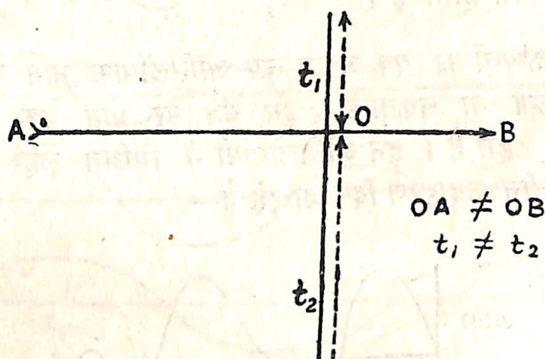
सामान्य ध्वनि-आवर्तन—



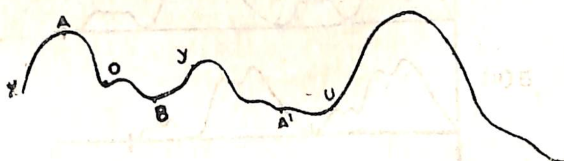
एक चक्र (आवर्तन) अन्य चक्र (आवर्तन)

यह वक्र रेखा समय और सीमा दोनों बातें बताती हैं। ऊँचाई द्वारा दूरी तथा लम्बायमानता द्वारा समय बताए जा रहे हैं। यह एक सामान्य और सरल कम्पन का विवरण है जहाँ एक आवर्तन दूसरे आवर्तन के समान है तथा t भी एक सा ही है। इसमें अणु का मार्ग x से y तक एक पूर्ण कम्पन है।

यदि ऊपर की स्थिति में कहीं भी अंतर आ जाता है जो कम्पन की सरलता नष्ट हो जाती है। इस सरल कम्पन को ही सरल हारमोनिक गति कहा जा सकता है। असमान्य स्थिति में कुछ इस प्रकार होता है



और इसकी लहर ऊपर अंकित लहर के समान न रहकर कुछ ऐसी होती है



हमारी व्यक्त ध्वनियों की स्थिति कुछ इसी प्रकार है।

इस वक्रता को ध्वनि-विश्लेषण करने वाली विविध मशीनों की वक्र रेखाओं में देखा जा सकता है। अब हमारे सामने ध्वनियों के नीचे लिखे भेद हैं—

१. ध्वनि—किसी भी भौतिक माध्यम से उत्पादित कोई भी कम्पन

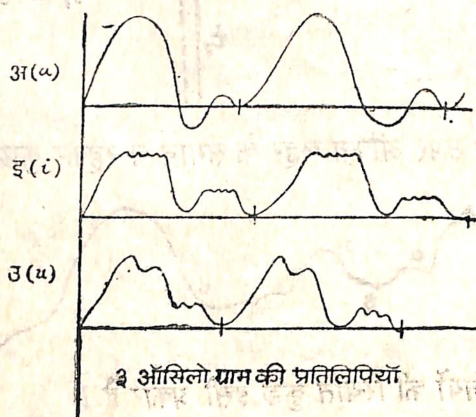
२. श्रव्य ध्वनि—जिसे सामान्य मानव श्रवणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण कर सके

३. व्यक्त ध्वनि—ऐसी श्रव्य ध्वनि जिसे उच्चारणोपयोगी अवयवों से निकाला गया हो।

४. वाक् ध्वनि—कोई भी व्यक्त ध्वनि जो भाषण की संकेत हो—यह ध्वनि प्रायः असमान्य (मिश्रित) कम्पनों से निर्मित होती है।

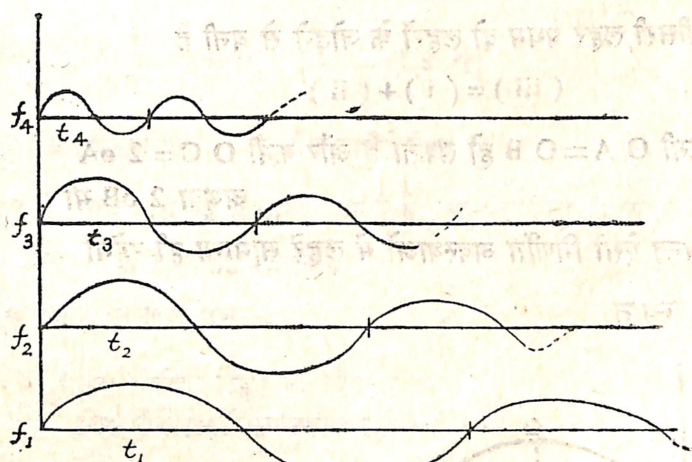
कोई भी मिश्रित लहर दो या अधिक सामान्य लहरों का योग होती है। वाक् ध्वनियाँ बहुत ही मिश्रित प्रकार की हैं और अनेक सामान्य लहरों के योग से निर्मित होती हैं।

मिश्रित कम्पनों का एक अच्छा रूप ऑसिलोग्राफ नाम के ध्वनि-यंत्र से प्रस्तुत किया जा सकता है। इस यंत्र पर प्राप्त वक्र रेखाओं को ऑसिलोग्राम कहते हैं। इन ऑसिलोग्रामों में मिश्रित लहरें देखने को मिलती हैं। तीन उदाहरण दिए जा रहे हैं—



३ ऑसिलो ग्राम की प्रतिलिपियाँ

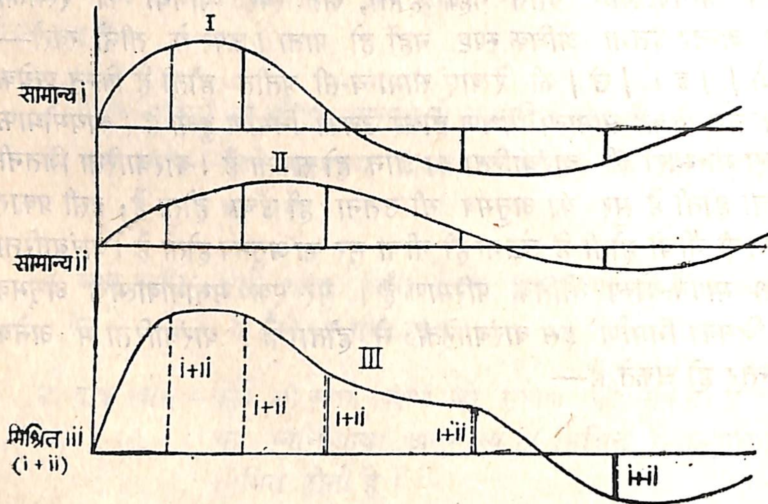
कायमोग्राफ यन्त्र पर भी ध्वनियों की रेखाएँ अङ्कित होती हैं परन्तु यह यन्त्र अधिक शीघ्र चेतन नहीं होता, अतः स्वर ध्वनियों की रेखाओं का अन्तर इतना अधिक स्पष्ट नहीं हो पाता। ऊपर के तीनों स्वरों—/अ/, /इ/, /उ/ की रेखाएँ सामान्य-सी प्रतीत होती हैं किन्तु प्रत्येक आवर्तन में कई सामान्य मिश्रण होकर उनका निर्माण हुआ है। कायमोग्राफ द्वारा भी स्वरों की बारंबारिता का ज्ञान हो सकता है। बारंबारिता जितनी ऊँची होती है सुर का अनुभव भी उतना ही ऊँचा होता है; इसी प्रकार जितनी नीची होती हैं उतना ही नीचा सुर का अनुभव होता है। बारंबारिता एक मापन-योग्य भौतिक परिमाण है। सुर एक मनोभावात्मक अनुभव है जिसका निर्माण इस बारंबारिता से होता है। बारंबारिता में अनेक अन्तर हो सकते हैं—



$f_2 = 2 f_1$; $f_3 = 3 f_1$; $f_4 = 4 f_1$

मिश्रित ध्वनि अनेक सामान्य ध्वनियों का योग होती है। मान लीजिए की निम्नांकित दो सामान्य लहरें हैं :—

प्रथम स्थिति



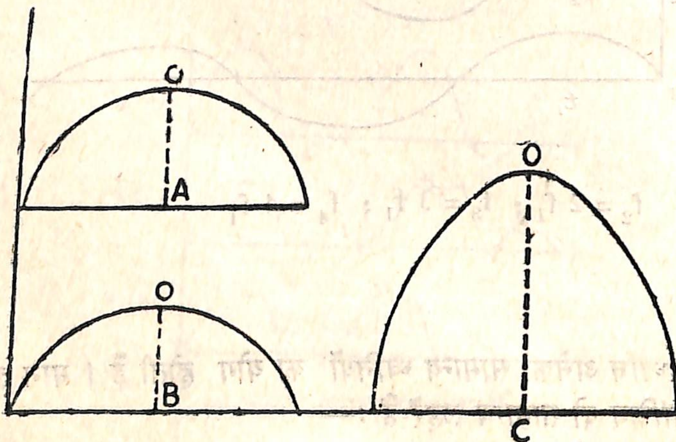
तीसरी लहर प्रथम दो लहरों के जोड़ने से बनी है

(iii) = (i) + (ii)

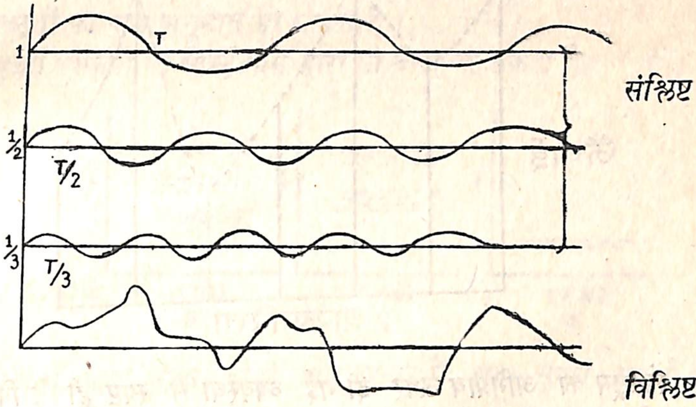
कभी O A = O B हो सकता है और कभी O C = 2 oA अथवा 2 oB भी

परन्तु ऐसी निर्णीत अवस्थाओं में लहरें सामान्य ही रहेंगी

द्वितीय स्थिति



तीसरी स्थिति



$$f_1 = \frac{1}{T}; \; f_2 = \frac{2}{T}; \; f_3 = \frac{3}{T}$$

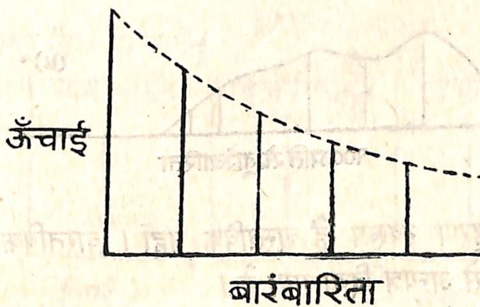
$$2\left(\frac{1}{T}\right) = {}^2f_1; \; 3\left(\frac{1}{T}\right) = {}^3f_1$$

द्वितीय हारमोनिक तृतीय हारमोनिक

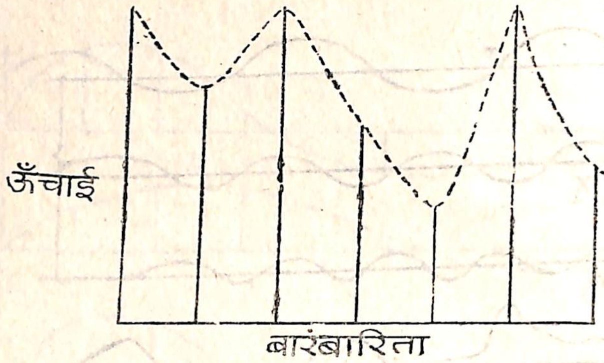
हमारी नित्य प्रति की सामान्य वाणी में बारम्बारिता प्रायः 300 से 3000 आवर्तन प्रति सेकिंड रहती है

वाक् लहर का विश्लेषण—

i उस मिश्रित लहर का स्पेक्ट्रम
जिसकीबारंबारिता समान रहती है।



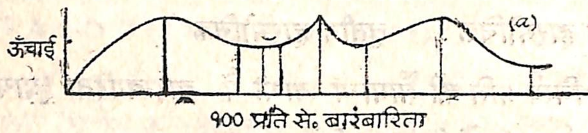
विभिन्न बारंबारिता का स्पेक्ट्रम

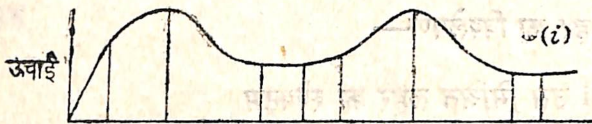


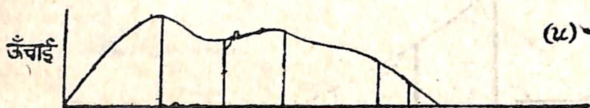
स्पेक्ट्रम का अभिप्राय ऊपर दी गई व्यवस्था से स्पष्ट ही है कि यह बारंबारिता की दृष्टि से ऊँचाई का वितरण होता है।

स्वरों के आच्छादन—

[a] [i] [u]



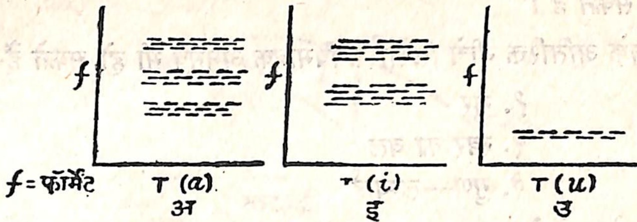




ये आच्छादन उदाहरण स्वरूप हैं वास्तविक नहीं। वास्तविक रूप वक्र रेखाओं के माध्यम से अन्यत्र दिया गया है।

यह देखा गया है कि बोलते समय सुर में परिवर्तन होता है किन्तु गाने में यह नियमित रहता है। ऊपर दिए गए चित्रों से /अ/, /इ/, /उ/ के स्पेक्ट्रमों का कुछ अनुमान हो सकता है।

इन्हीं ध्वनियाँ को स्पेक्ट्रोग्राम द्वारा भी देखा जा सकता है

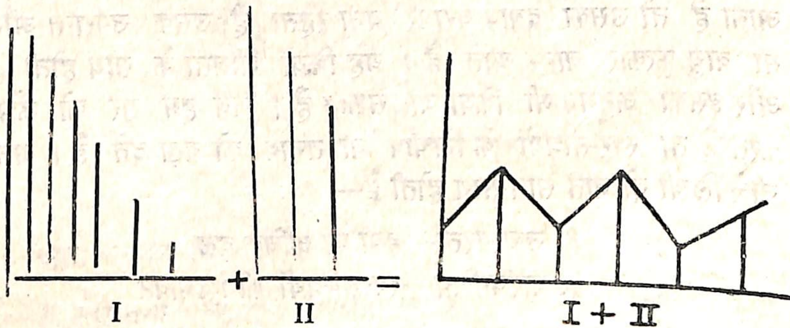


[i] इ में काली रेखा चौड़ी और दूर-दूर हैं अतः समय का विचार किया जाना भी स्पष्ट होता हैं।

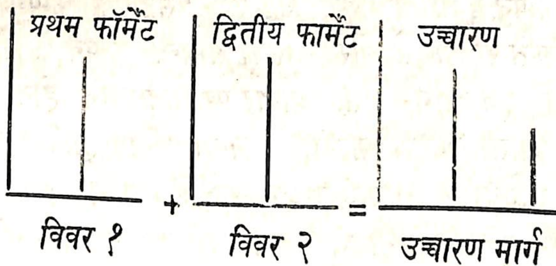
स्वर-ध्वनियां निम्नांकित दो बातों पर निर्भर रहती हैं—

(१) स्वर-तन्त्रियां
(२) उच्चारण विवर

स्वर-तन्त्री के कम्पन का स्पेक्ट्रम—



उच्चारण-विवर के कम्पन



इन कम्पनों से
i बारंबारिता
ii ऊँचाई
iii अवधि

तीनों को सुविधापूर्वक नापा जा सकता है। अतः ये भौतिक गुण कहे जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त नीचे लिखों के विभावक अनुभव भी हो सकते हैं—

१. सुर
२. स्वर का बल
३. गुण—लम्बाई

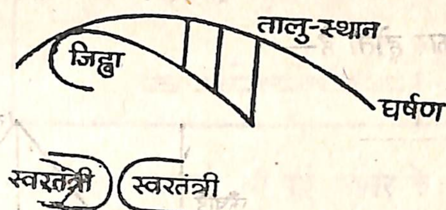
जिन्हें स्पेक्ट्रमों के द्वारा आसामी से नापा जा सकता है। जब स्पेक्ट्रम में अधिक कालापन होता है तो वह स्वर की ऊँचाई का प्रतीक होता है। बोलने में स्वर-तंत्रियों पर खिचाव होता है ठीक इसी तरह जैसे कसते समय रस्सी पर खिंचाव आता है। स्वर-तन्त्रियों का खिंचाव हमारी सम्बन्धित मांसपेशियों पर निर्भर रहता है।

वायु निर्गमन—ध्वनि का बाहर निकलना वायु निर्गमन पर आधारित है। जब स्वर-तंत्रियां बन्द हो जाती हैं और हवा का एक फूत्कार बाहर आता है तो उसका दबाव बराबर बना रहता है; उसके उपरान्त और भी वायु फूत्कार बाहर आते हैं। यह क्रिया शीघ्रता के साथ होती है और इसका अनुभव भी किया जा सकता है। जब हम सुर को ऊँचा करते हैं तो स्वर-तंत्रियों के खिंचाव या तनाव को बढ़ा देते हैं। अतः नीचे लिखी दो बातें साथ-साथ होती हैं—

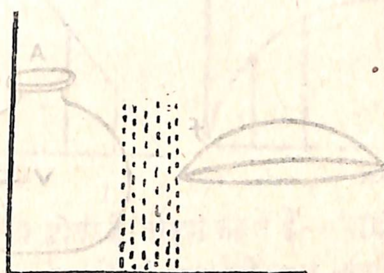
१. उच्चस्वरता—हवा का अधिक बल
२. बारंबारिता—स्वरतन्त्रियों की खिचावट

सुर को ऊँचा करने से ही सम्बन्धित शब्द ऊँचा होता है। गूँज भी एक प्रकार का कम्पन होता है परन्तु यह एक "सहायक कम्पन" है जो एक विशिष्ट आकृति रखता है और जिसका सम्बन्ध कम्पन के सीधे रूप से नहीं होता। गूँज ध्वनि—इसी आधार पर वह ध्वनि होती है जो स्वर तन्त्रियों से आती हुई वायुफूत्कार के कारण कम्पित होती है क्योंकि इसके साथ अन्य कई कारण सम्मिलित हो जाते हैं। प्रत्येक आकृति की एक प्राकृतिक कम्पन-बारम्बारिता होती है। जैसे ही स्वर-तन्त्रियों से कम्पन

निकलता है विवर भी कम्पन करने लगता है। स्वतन्त्रियों के सभी कम्पन ^{n}f होते हैं (n का मूल्य कुछ भी हो सकता है) जिस किसी ध्वनि में यह होता है वही गूँज-ध्वनि है। 'घर्षक' ध्वनियाँ गूँज-ध्वनियाँ नहीं हैं घर्षक में बारंबारिता का भावी-कंपन नहीं किया जा सकता।



फ्रिकेटिव या घर्षक का स्पेक्टोग्राम कुछ ऐसा होता है—

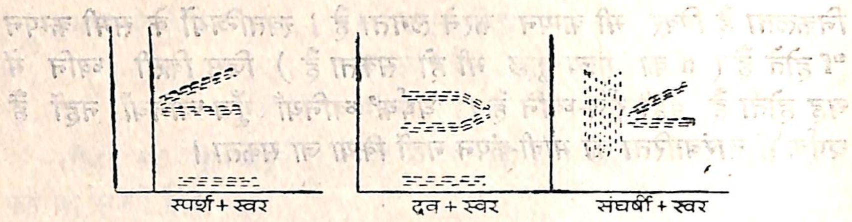


अतः परिणाम निकला कि—

१. स्वर तथा अन्य गूँज ध्वनियों के लिए एक निश्चित स्पेक्ट्रम होता हैं और इसकी आकृतियाँ हारमोनिक हैं।

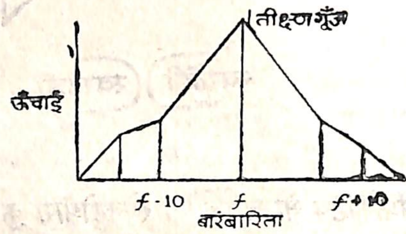
२. घर्षक ध्वनियों में हारमोनिक आकृति का अभाव रहता है—उपर्युक्त स्पेक्ट्रम से यह बात देखी जा सकती है।

३. स्पर्श कंपनों का एक अन्य स्रोत भी होता है जो स्वरतन्त्रियों से संबन्धित नहीं होता। इसकी आकृतियाँभी हारमोनिक नहीं होतीं। इसका स्पेक्ट्रम कुछ अव्यवस्थित रूप से वितरित होता है।

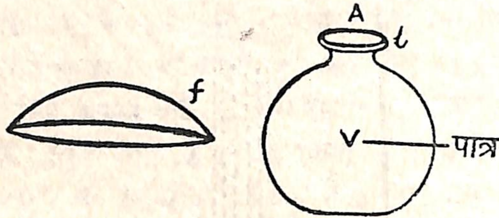


गूँज किस प्रकार होती है—

गूँज ध्वनि ________ f



कम्पन का चित्र—



A अ—क्षेत्र
L ल—लम्बाई   हेम होल्त्ज़ गुंजक
V घनत्व

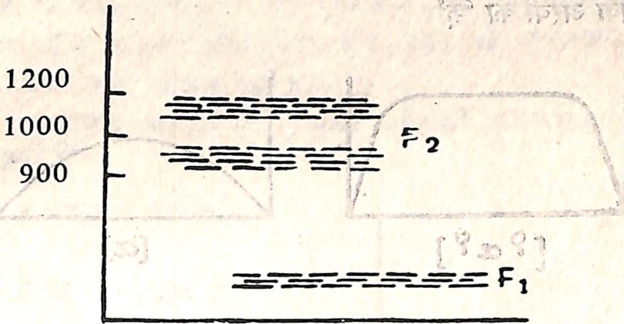
यह विवरण इस प्रकार है—

ध्वनि फंडामेंटल   १०० प्रति से०

....
....
....

9 वां	हारमोनिक	900
10 वां	,,	1000
11 वां	,,	1100

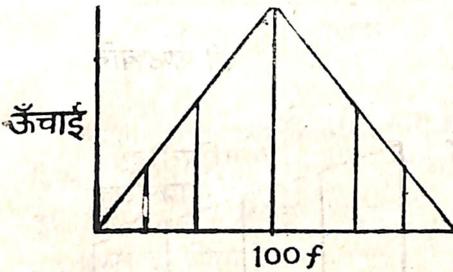
इसका चित्र इस प्रकार होगा—(स्पेक्ट्रोग्राम)

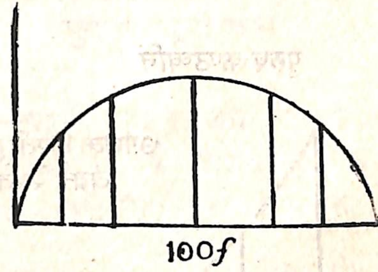


कम्पनों का आर्द्रीकरण—कम्पन भी कई प्रकार के होते हैं तीक्ष्ण, चपटे और उन्हीं पर आधारित हैं—

i तीक्ष्ण अनुरणन

ii चपटा अनुरणन



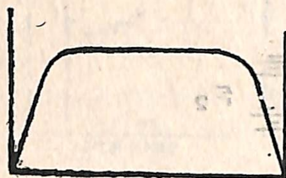


जब अनुरणन नोकीला होता है तो हम कहते हैं—आर्द्रीकरण छोटा है। किन्तु जब वह चपटा होता है तो हम उसे बड़ा आर्द्रीकरण कहते हैं। नियन्त्रित ध्वनियों में आर्द्रीकरण छोटा होता है और तीव्रता अधिक होती है, अनियन्त्रित ध्वनियाँ ऊँचा आर्द्रीकरण रखती हैं और तीव्रता कम होती है।

नीचे लिखा वृत्तान्त इसको पूरी तरह स्पष्ट करता है—

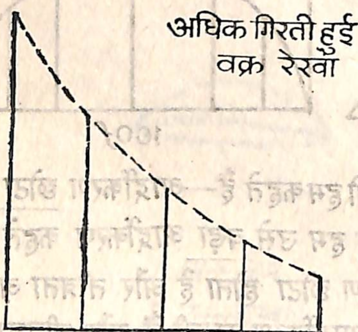
१. नियन्त्रित	अनियन्त्रित
२. निम्न आर्द्रता	उच्च आर्द्रता
३. अधिक तीव्रता	कम तीव्रता
४. कम अवस्थिति	अधिक अवस्थिति
५. उपजिह्वीय	अनुपजिह्वीय
६. [ʔअʔ]	[अ]

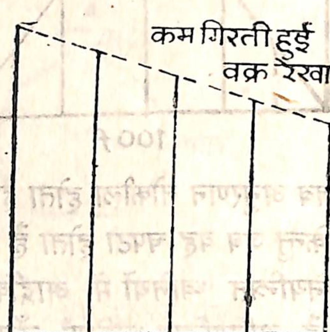
अथवा अरबी का 'क़'





विविध कंठों के गुण : कण्ठ-ध्वनि की विशेषताएँ। वैसे तो प्रत्येक ध्वनि अलग होती है, क्योंकि हम ध्वनि से व्यक्ति को पहिचान लेते हैं फिर भी कुछ कण्ठ-ध्वनियों में विशेष अन्तर होता है जैसे पुरुष और स्त्री की कण्ठध्वनियाँ—

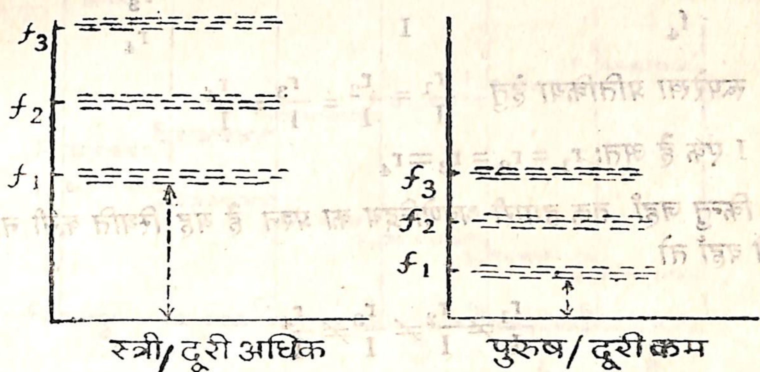




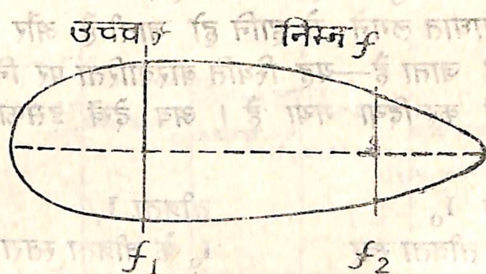
i यही कारण है कि स्त्री की कण्ठध्वनि उसकी ध्वनियों को अधिक स्पष्टता प्रदान करती है। रेडिओ पर घोषणा कार्य अथवा समाचार प्रसारण के लिए महिलाओं को प्रमुखता दी जाती है। आल इण्डिया रेडिओ पर ही देखिए उर्मिला मिश्र और विनोद कश्यप तथा देवकीनन्दन पांडे और अशोक वाजपेयी की कण्ठध्वनियों में कितना अन्तर है। कभी-कभी तो पुरुष की कण्ठध्वनि की समता 'फटे बांस' की ध्वनि से करते हैं। (पुरुष क्षमा करें)।

ii स्त्री की कण्ठ-ध्वनि का परिवर्तन भी शीघ्र देखा जा सकता है क्योंकि उसकी वक्र रेखा अधिक सीधी होती है। पुरुष की कण्ठध्वनि में यह परिवर्तन इनकी जल्दी लक्षित नहीं होता।

iii सानुनासिक ध्वनियों में भी पुरुष और स्त्री की कण्ठध्वनियों का अन्तर द्रष्टव्य है



श्रावकी यन्त्र—इसके तीन भाग हैं—बाहरी, बीच का और भीतरी। विवरण अन्यत्र दिया गया है। इन श्रवणेन्द्रियों में एक झिल्ली है जिसे कुछ लोग कुठेरक झिल्ली कहते हैं। इस झिल्ली का खुला हुआ रू इस प्रकार का होता है—



सुनने की बारंबारिता झिल्ली के कम्पन पर निर्भर रहती है। श्रवण-क्रिया के समय झिल्ली में जो कम्पन होता है वही श्रावकी बारंबारिता है। इस झिल्ली के द्वारा मिश्रित कम्पनों का विश्लेषण भी हो जाता है और उसके सम्बन्धित अङ्ग अथवा भागों का परिचय प्राप्त होता है—इनमें से प्रत्येक झिल्ली की गति को प्रभावित करता है।

कान की प्रतिक्रिया--

बारंबारिता	बाह्य प्रभाव की तीव्रता	भौतिकी प्रतिक्रिया
f_1	I	r_1
f_2	I	r_2
f_3	I	r_3
f_4	I	r_4

रूपरेखा प्रतिक्रिया हेतु $\frac{r_1}{I} = \frac{r_2}{I} = \frac{r_3}{I} = \frac{r_4}{I}$

I एक है अतः $r_1 = r_2 = r_3 = r_4$

किन्तु जहाँ तक हमारी श्रवणेन्द्रिय का प्रश्न है यह स्थिति कभी नहीं होती वहाँ तो

$$\frac{r_1}{I} \neq \frac{r_2}{I} \neq \frac{r_3}{I} \neq \frac{r_4}{I}$$

अतः $r_1 \neq r_2 \neq r_3 \neq r_4$

इसका अर्थ यह हुआ कि कान की क्रिया रूपरेखा-विहीन है।

दुखप्रद तीव्रता—श्रवण की एक स्थिति वह होती है जब तीव्रता अधिकतम होती है और श्रवणेन्द्रिय के द्वारा उसका सहन सम्भव नहीं होता, वरन् दुःख का अनुभव होने लगता है। कभी-कभी अधिक शब्द के कारण कान में आघात लगने से हानि हो जाती है और कभी झिल्ली का परदा फट भी जाता है—यह स्थिति बारंबारिता पर निर्भर है जिसका उल्लेख पहले ही कर दिया गया है। अब देखें इसका स्वरूप क्या होता है—

तीव्रता I_0	तीव्रता I_1
I_1 का तीव्रता स्वर	I_0 के तीव्रता स्तरानुसार

इस प्रकार कहा जा सकता है—

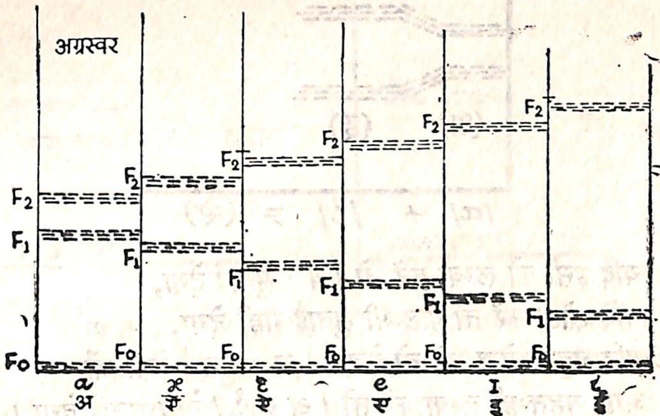
$$L = 10 \log_{10} \frac{I_1}{I_2}$$ डेसेबल

($I_0 = 10^{-10}$ माइक्रोवाट / $C_m s$)

$$\log \frac{I_0}{I_1} = \log_m 1 = 0$$

इस प्रसङ्ग में कष्ट देहली भी आती है जिसका चित्र अन्यत्र दिया जा चुका है।

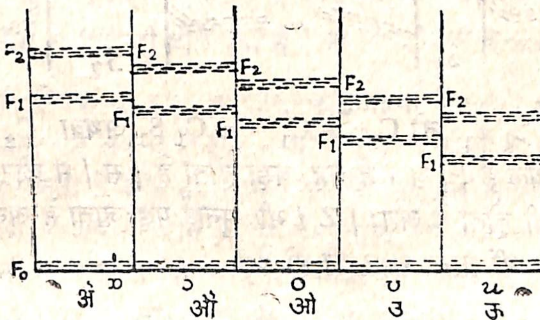
स्वर ध्वनियों के स्पेक्टोग्राम



नोट करें—

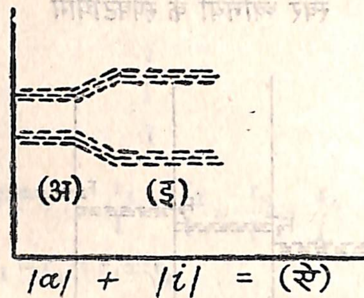
जितना ऊँचा स्वर है F_1 उतना ही नीचा है, तथा
जितना ऊँचा स्वर है F_2 उतना ही ऊँचा है

पश्चस्वर



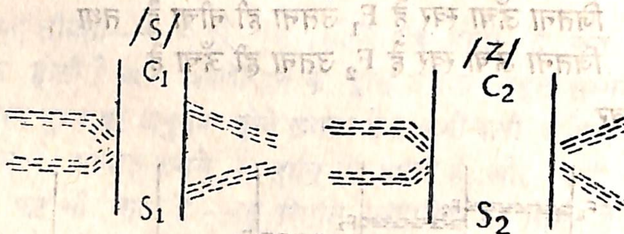
जितना ऊँचा स्वर है F_1 F_2 दोनों ही उतने ही नीचे हैं (F_0 F_1 F_2 फोर्मेंटस् हैं) (ये अंकन स्पेक्टोग्राफ मशीन से लिए गए अंकनों पर आधारित हैं—स्पेक्टोग्राम ही देना अधिक समीचीन होता, परन्तु सुविधा न होने से इस प्रकार के अंकन देना संभव नहीं हुआ)

अब कुछ संयुक्त स्वरों पर भी विचार कर लें जैसे ऐ
संयुक्त स्वर / ऐ /



i यदि इसी को लम्बा करें तो / य / सुनाई देगा,
ii यदि छोटा करें तो कुछ भी सुनाई नहीं देगा,
iii यदि बहुत छोटा करें तो केवल / अ / सुनाई देगा और
iv अगर बहुत ही लम्बा करें तो / अ ए ई / ऐसा सुनाई देगा ।
घर्ष ध्वनियों में कुछ शान्त स्थल आ जाता है ।

/ S / तथा / Z / ध्वनियाँ देखें—



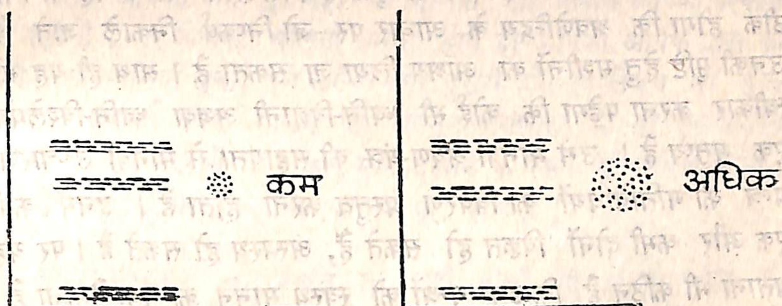
यदि $S_2 > S_1$ तो $C_2 > C_1$ C_1 S_1 अथवा C_2 S_2 अंकित अंश शान्त स्थल हैं । / ज़ / में यह बड़ा होता है / स / में छोटा । हमारा कान सूक्ष्मबोधी होता है अतः / Z / भी सुनाई पड़ जाता है अन्यथा / S / ही है । अन्तर भी शान्त स्थल का ही है ।

ध्वनि$_1$ $\left|\frac{d_1}{\quad}\right|$ $\left|\frac{d_1}{\quad}\right| + \frac{}{\triangle\ d_1}$

ध्वनि$_2$ $\left|\frac{d_2}{\quad}\right|$ $\left|\frac{d_2}{\quad}\right| + \frac{}{\triangle\ d_2}$

स्पेक्टोग्राफ भी

[S] [Z]



बहुत ही संक्षेप तथा संकोच से श्रावकी ध्वनि-विज्ञान के बारे में यहाँ कुछ सामग्री दी गई है। वैसे यह विषय बहुत विस्तृत है और यदि कभी अवसर मिला तो अधिक विस्तार से सभी तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा। फान्त, मिलर, पुलग्रम, रिकार्डसन आदि विद्वानों ने इस शाखा पर बहुत काम किया है और प्रस्तुत लेखक का यह सौभाग्य रहा कि फान्त तथा पुलग्रम आदि विद्वानों से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त कर सका। फान्त को तो उनकी प्रयोगशाला—'राजकीय ध्वनि प्रयोगशाला'—के अन्दर काम करते हुए भी देखा। उन दिनों वे रूसी ध्वनियों का अध्ययन कर रहे थे। पुलग्रम ध्वनियों के स्पेक्टोग्राम बनाने में विशेषज्ञ हैं। मैंने भी उनके सहयोग से "हिन्दी बोल रहा हूँ" का स्पेक्टोग्राम बनाया।

ध्वनि-विश्लेषक के मार्ग में काफी कठिनाइयाँ हैं—वह न अपने कानों का ही विश्वास कर सकता है और न मशीनों का। कानों के द्वारा कभी वह अधिक सुन सकता है और कभी कम। मशीनों की गति अलग ही है। तभी तो उप्पसाला (अब मेलबोर्न) के हैमरस्ट्राम का यह कथन बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है कि यन्त्रगत विश्लेषण श्रवणगत विश्लेषण की समानता नहीं कर सकता—पर कान हों, मूषक-विवर नहीं।

भारतवर्ष में ध्वनियों का विश्लेषण बहुत ही वैज्ञानिक पद्धति पर हुआ है। विश्लेषण का आधार सुनने वाले अथवा विश्लेषक के कान थे। किस सीमा तक इन कानों को व्यवस्थित यन्त्र और सामान्य कोटि का क़हा जा सकता है—यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। इसमें संदेह नहीं कि जिन

भारतीय विद्वानों ने ध्वनि-विवरण उपस्थित किए वे आज भी सम्मान-सहित मान्य हैं। मशीनों की सीमाओं तथा उनकी भ्रामक सूचनाओं का विशेष विवरण एक अन्य स्थान पर दिया जा चुका है। सिद्धान्त रूप में यह मानना ठीक होगा कि श्रवणेन्द्रिय के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनकी पुष्टि हेतु मशीनों का आश्रय लिया जा सकता है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई भी ध्वनि-विज्ञानी अथवा ध्वनि-विश्लेषक एक मनुष्य है। उसे मानवी श्रवण-यंत्र की सहायता से मानवी उच्चारण-यन्त्र की गतिविधियों का विवरण प्रस्तुत करना होता है। इनमें कभी एक और कभी दोनों विकृत हो सकते हैं, अस्वस्थ हो सकते है। पर यह बताना भी कठिन है कि इन यन्त्रों को स्वस्थ मानने का क्या पैमाना है। कितने लोग यह मानने को तैयार होंगे कि उनके बोलने अथवा सुनने में कुछ खराबी है यद्यपि यह एक तथ्य है कि कितनी ही खराबियाँ हो सकती हैं—बोलने में और सुनने में भी। साथ ही बोलने और सुनने दोनों क्रियाओं में उन परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है जिनमें इन प्रकृतिदत्त यंत्रों का उपयोग किया जाता है। हम कैसे कह सकते हैं कि ध्वनियाँ सामान्य दशा में ही बोली अथवा सुनी गईं। यह प्रायः देखा जाता है कि जब सूचक विश्लेषक का साक्षात्कार करता है तो उसकी गति बदल जाती है। अभी तीन-चार सप्ताह भी बात है मैं 'बाड़मेरी' बोली की कुछ ध्वनियाँ ले रहा था—सूचक आया हुआ था, पर मेरे सामने होते ही कुछ परेशान-सा नज़र आया, बहुत ही सतर्क होकर प्रश्नों का उत्तर देने लगा—उसकी स्वाभाविकता जैसे विलुप्त हो गई। अतः परिस्थितियों का बहुत कुछ महत्त्व होता है। आदर्श स्थिति तो वह होगी जब मस्तिष्क पर कोई भी बाहरी प्रभाव न हो और सम्पूर्ण कार्य स्वाभाविक स्थिति में किया जाए। अनेक अवस्थाओं में यह भी देखा गया है कि ध्वनिकर्ता बनकर बोलने लगते हैं, और कभी बाहरी अव्यवस्था के कारण श्रोता ही चक्कर में पड़ जाता है। इनमें से कुछ स्थितियों का समाधान मशीनों के द्वारा किया जा सकता है। यदि अपनी प्रयोगशाला ठीक है और मशीनें ठीक काम कर रही हैं तो सम्भावना यही होगी कि परिणाम ठीक निकलें। पर इसमें भी दूसरी एक अन्य सम्भावना है। मशीनों को देखकर ध्वनिकर्ता को हैरानी होने लगती है। यदि प्रयोगशाला में ले जाँय तो वहाँ का वातावरण उसे चकित-सा कर देता है और यदि किसी भी मशीन का माध्यम लेकर बोलने को

कहा जाय तो उसकी अवस्था का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आधुनिक मिंगोग्राफ मशीन इन कठिनाइयों पर काबू पाती दिखाई देती है। आप बोलें, आपको पता ही नहीं लगेगा कि कोई मशीन आपको रिकार्ड कर रही है। पर आपका बोलना समाप्त होते ही आपको आपके द्वारा की जाने वाली ध्वनियाँ सुनाई देने लगेंगी और दूसरी ओर विश्लेषण भी होने लगेगा। हमबर्ग विश्वविद्यालय की ध्वनि-प्रयोगशाला में भी एक मशीन है जिसे डाक्टर हार्ट ने कृपा कर, मुझे दिखाने के लिए, परिचालित किया। यहाँ मैंने बहुत ट्रेसिंग लिए जिनकी एक पूरी रील है।

आदर्श व्यवहार और पद्धति तो यही होगी कि दोनों प्रकार की पद्धतियों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाए और यथाशक्ति इस बात की चेष्टा की जाए कि बाह्य बाधाएँ उपस्थिति न हों। भारतीय विद्वानों में श्रावकी ध्वनि-विज्ञान का विशेष अध्ययन डॉ० गणेशसुन्दरम् ने किया है और इस निबन्ध में भी उनका योगदान है।

९

पदस्तरीय भाषा-विज्ञान

अखिल विश्व ध्वनि-विज्ञान सम्मेलन, म्यूंस्टर में तथा उसके उपरान्त उनकी प्रयोगशाला, कोपेनहेगन में प्रसिद्ध ध्वनि-विश्लेषक और नव सिद्धान्त निर्मात्री इलाइ फिशर से मिलकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। इस महिला ने भाषा तथा ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में जितना सम्मान पाया है उतना सम्मान बहुत कम महिलाओं को मिल सका है। इनके अपने सिद्धान्त हैं, अपनी मान्यताएँ और पद्धतियाँ हैं और इनको विश्वास है कि उनकी पद्धति पर आधारित विवरण अधिक विश्वस्त और ग्राह्य होना चाहिए। वैसे भाषा-विज्ञान से विविध सम्प्रदायों में कोपेहेगन का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। डेनमार्क के प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री हेम्स्लेव तथा उल्दल की गवेषणाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन लोगों ने विशेषकर ग्लॉसेमैटिक्स नाम के भाषायी सिद्धान्त पर काम किया। सतत प्रयत्न द्वारा उन्होंने भाषा-विवरण को एक ऐसी पद्धति प्रदान करने की चेष्टा की जिसके आधार पर किए गए विश्लेषण अधिक निर्दोष और यथार्थ हो सकें और उनमें पूर्वापर का विरोध भी दिखाई न दे। इनका उद्देश्य था कि भाषा-विज्ञान को वास्तव में विज्ञान का रूप प्रदान किया जाए। इलाइ फिशर ने भी इनके सिद्धान्त को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है।

भाषा-विज्ञान समाज-शास्त्रों में एक है। समाज-शास्त्रों के सिद्धान्त प्रायः परिवर्तनशील होते हैं, उनमें स्थायित्व का अभाव रहता है और अपवादों की प्रचुरता होती है। भाषा-शास्त्र में भी इसीलिए बहुत-सी कमियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं। यदि भाषा-शास्त्र का नितान्त यथार्थ, स्थिर और सम्यक् रूप प्रतिपादित कर दिया जाय तो अन्य समाज-शास्त्रों का पथ भी इस ओर प्रशस्त हो सकेगा।

इस पद्धति में विवरणात्मक प्रकृति एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। किन्तु उपयोगी होने के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार की पद्धति सम्बन्धित विषय में उपयुक्त होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह पद्धति भाषा-सम्बन्धी अनुभवों की सामान्य भित्ति पर आधारित है। इस पद्धति का प्रयोग करने में उस सामान्य प्रवृत्ति का ध्यान रखा जाए जो भाषा की अपनी है। यदि भाषा की सामान्य प्रवृत्ति को विस्मृत कर दिया जाएगा तो प्राप्त निष्कर्ष सत्य से कहीं दूर होंगे। यहां इस सिद्धान्त पर स्वीकृत कुछ सामान्य विधाओं का उल्लेख किया जा रहा है। यह पद्धति अमरीकी कार्य-प्रणाली से कुछ भिन्न है किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि इसकी अनेक बातों से यूरोपीय भाषाशास्त्रियों की अपेक्षा अमरीकी भाषा-विशेषज्ञ अधिक प्रभावित हुए हैं।

अमरीका में ब्लूमफील्ड सिद्धान्तों को जिनकी मान्यता मिली और आजतक जिस सम्मान के साथ उनकी बातों को निरन्तर अग्रसर किया जा रहा है; यूरोप में, किसी सीमा तक, उस स्थान का अधिकारी फांसीसी दि सौसू है जिसकी 'कोर्स दि लिग्विस्तीक जनरेल' नामक पुस्तक अनेक सिद्धान्तों और मन्यदाताओं की जन्मदात्री है। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है और बड़े सम्मान के साथ पढ़ा जाता है, इस पर भी यह द्दष्टव्य है कि पुस्तक रचयिता के शब्दों में न होकर उनके शिष्यों द्वारा लिए गए नोटों पर आधारित विवरणों का समुच्चय है। डेनिश हेम्स्लेव भी इस पुस्तक से बहुत प्रभावित हुए। हाँ, यह बात अवश्य है कि जहाँ ब्लूमफील्ड की पुस्तक आरम्भ से अंत तक एक निश्चित आधार पर चलती है वहाँ दि सौसू के नाम पर प्रस्तुत पुस्तक में अनेक विरोधी बातें भी हैं। विद्यार्थियों के नोटों पर आधारित पुस्तक में यदि यह बात देखी जाए तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। मैंने जब इस पुस्तक के अँग्रेजी रूपान्तर का अध्ययन किया तो कई एक स्थानों पर रुकावटें दिखाई दीं। यूरोप के विद्वानों ने इस पुस्तक का अपने अनुसार उपयोग किया और इसकी व्याख्या करने में अपने व्यक्तिगत सिद्धान्त तथा मान्यताओं को भी स्थान दिया। यही कारण है कि प्राह सम्प्रदाय ने जो व्याख्या उपस्थित की वह हेम्स्लेव की व्याख्या से, अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गों पर, भिन्न है।

फिशर का कथन है कि हेम्स्लेव द्वारा जो मान्यताएँ स्थिर की गईं उनके आधार पर एक नया सम्प्रदाय नहीं मानना चाहिए यद्यपि डेनमार्क

के बाहर 'कोपेनहेगेन सम्प्रदाय' प्रसिद्ध ही है और इसकी गिनती अमरीकी, अँग्रेजी, प्राही आदि सम्प्रदायों के साथ की जाती है। वैसे डेनमार्क में नव सम्प्रदाय निर्माण करने की क्रिया में आस्था नहीं है। यहाँ बड़े-बड़े भाषाशास्त्री हुए—जैसे रास्क, थामसन, येस्पर्सन किन्तु किसी ने अपना सम्प्रदाय नहीं चलाया। यद्यपि डेन बहुत ही व्यक्तिवादी होते हैं किन्तु वे सामान्य सिद्धान्तों और मान्यताओं का आदर करते हैं और अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को आधार बनाकर ग्रहीत सिद्धान्तों से अलग होना नहीं चाहते। यही कारण है कि वे भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी सामान्य भाषाविज्ञान और उसके सामान्य सिद्धान्तों पर अधिक जोर देते हैं। यहाँ के 'सर्किल लिंग्विस्तीक' का भी यही उद्देश्य रहा है कि विदेशी भाषा-शास्त्रियों से अपना सम्पर्क रखें तथा जो भी बातें ठीक और लाभप्रद हों उन्हें ग्रहण करें।

दि सौसू की मान्यता थी कि भाषा 'सकेतों की एक व्यवस्था है'। 'व्यवस्था' से उनका अभिप्राय यह है कि भाषा में शब्दों का अव्यवस्थित ढेर नहीं होता—अथवा असम्बद्ध बातें नहीं होतीं, वरन् विभिन्न अङ्गों का संयोजन निश्चित सम्बन्धों के आधार पर होता है। और आज इस बात से सभी सहमत हैं कि भाषा की प्रकृति कुछ इसी प्रकार की है—इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि हम इस अवस्था को वास्तविक समझें अथवा भाषा-शास्त्रियों द्वारा निर्मित उपादान। अब हमें यह देखना है कि दि सौसू 'संकेत' शब्द का अर्थ क्या बताते हैं, क्योंकि इस शब्द की मान्यता इतनी विस्तृत नहीं है और स्थान-स्थान पर अनेक प्रकार के अंतर दृष्टिगत होते हैं। दि सौसू के अनुसार 'संकेत' (उदाहरण के लिए 'शब्द') के दो भाग होते हैं जिन्हें वह significant और signific की संज्ञा देता है। हम इन्हें अर्थान्वित और भाव कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक शब्दों में वर्णन करते हुए वह इन्हें 'श्रावकी बिंब' और 'विभावन' से सम्बोधित करता है। दि सौसू का यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हेम्स्लेव ने ग्रहण नहीं किया। उसने संकेत का एक अन्य अभिप्राय ग्रहण किया है और संकेत के दोनों अङ्गों से क्रमशः 'अभिव्यक्ति' और 'अभिप्रेत' कहा है। पदस्तरीय भाषा-विज्ञान में 'अभिव्यक्ति' और 'अभिप्रेत' दो महत्त्वपूर्ण स्थितियाँ हैं और इन्हीं पर यह विज्ञान आधारित है। यदि इन दोनों को सामान्य रूप से समझने की चेष्टा की जाए तो हम कह सकते हैं कि—

अभिव्यक्ति—वही है जिसका विवरण 'ध्वनिग्राम' के अन्तर्गत किया जाता है। और

अभिप्रेत—वह है जो अर्थ-विज्ञान और व्याकरण से संबद्ध है। उदाहरण के लिए एक शब्द लीजिए—"बालकों"। इस शब्द को छोटे से छोटे दो संकेतों में विभाजित कर सकते हैं

/ बालकों / = / बालक / + / ें (ओं) /

इसका प्रथम अभिव्यक्ति भाग कई ध्वनिग्रामों से निर्मित है—

बालक = / ब् /, / आ /, / ल् /, / अ /, / क् / / अ /

और दूसरे में / ओ / का सानुनासिक रूप / ें / है। अब यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो पहले का अभिप्रेत / बालक / शब्द द्वारा ग्रहीत अर्थ है जिसे भाषा में प्रयुक्त अन्य शब्दों की व्यवस्था में बिठाया जा सकता है। दूसरे का अभिप्रेत व्याकरण संबंधी वह व्यवस्था है जिसके द्वारा बहुवचन का द्योतन होता है, और जो व्याकरण की अनेक क्रियाओं में से एक है। एक प्रकार से 'अर्थ' भाषा से पूर्णतः सम्बन्धित है। किन्तु केवल 'एक प्रकार से'। येम्स्लेव स्वयं भी एक अन्य अन्तर बताते हैं जिसकी ओर दि सौसू का भी ध्यान गया था, किन्तु उनका दृष्टिकोण, अंशतः कुछ दूसरा है। येम्स्लेव ने उनके प्रमुख विचार को लेकर उससे जो भी सम्भावित निष्कर्ष निकल सकते हैं उन पर यथातथ्य विचार किया है किन्तु इस बात का ध्यान रखा है कि उनका तारतम्य बराबर बना रहे।

'अभिव्यक्ति' और 'अभिप्रेत' दोनों में ही 'आकृति' और 'सारतत्त्व' विद्यमान रहते हैं—हम कह सकते हैं :—

1. अभिव्यक्ति { १—सारतत्व < ध्वनि (उच्चरित) / वर्ण (लिखित); २—आकृति }

2. अभिप्रेत { १—सारतत्व—अर्थ; २—आकृति }

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में 'सारतत्व'

i बोलने वाली भाषाओं में 'ध्वनियों' से निर्मित होता है और

ii लिखित भाषाओं में इसका निर्माण 'वर्णों' से होता है।

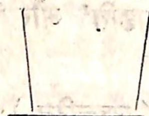
ध्वनियों को भौतिकी, आवयविक अथवा मनोवैज्ञानिक स्तर पर वर्णित किया जा सकता है। इस विवरण से भाषा-विज्ञान भी लाभ उठाता है

किन्तु वास्तव में देखा जाए तो यह 'भाषा-विज्ञान' नहीं है क्योंकि यह तो अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है अभिव्यक्ति नहीं, तभी तो आज के युग में 'भाषा-विज्ञान' और 'ध्वनि-विज्ञान' दो अलग विषय हैं—और दोनों के ही क्षेत्र अलग हैं।

अभिप्रेत में 'सार तत्व' के अन्तर्गत 'अर्थ' आता है—इसका निरीक्षण भी भौतिक तथा आवयविक आदि आधारों पर किया जा सकता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसको भी भाषा-विज्ञान की परिधि के बाहर माना जा सकता है। यही कारण है कि 'अर्थ-विज्ञान' को भाषा-विज्ञान का अंग न मानकर अलग ही माना जाता है। विवरणात्मक भाषा-विज्ञान में तो इस ओर विशेष ध्यान दिया ही नहीं जाता।

'अभिव्यक्ति' और 'अभिप्रेत' दोनों ही क्षेत्रों में 'आकृति' का महत्त्व व्यावहारिक है। अर्थात् भाषा में जो विविध तत्व पाए जाते हैं उनके पारस्परिक व्यापार को लेकर ही 'आकृति' का अस्तित्व सम्भव होता है। इसे विशेष रूप से भाषा का अङ्गी मानना चाहिए। इसे अन्य विज्ञानों, जैसे भौतिकी, आवयवी, मनोविज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं होती और न इनके आधार पर आकृति का विवरण ही उपस्थिति किया जाता है। भाषा की आकृति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है और भाषा में पाई गई इस प्रकार की अन्य इकाइयों से सम्बन्धित तथा प्रभावित रहती है।

(i) अभिप्रेत (ii) अभिव्यक्ति



सार तत्व

(अन्य विज्ञानों से भी सम्बन्धित)

(i) अभिप्रेत (ii) अभिव्यक्ति



आकृति

(सर्वथा भाषा से संबंधित)

इस विवरण से यह प्रतिपादित होता है कि भाषा-विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य, भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत अभिव्यक्ति और अभिप्रेत से सम्बन्धित 'आकृति' ही है।

अभिव्यक्ति और अभिप्रेत में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाषिकी सम्बन्ध 'संकेत' के अन्तर्गत पाया जाता है। उदाहरण के लिए एक 'संकेत' 'सिर' लीजिए—

i इसकी अभिव्यक्ति—/ स् / + / इ / + / र् / + / अ /
ii इसा अभिप्रेत (अर्थ)—सिर

अभिव्यक्ति और अभिप्रेत दोनों में एक निश्चित सम्बन्ध की अवधारणा की जाती है। सामान्य दृष्टि से तो संकेत-अभिव्यक्ति और संकेत-अभिप्रेत में कोई पारस्परिक संबंध दिखाई नहीं देता, परन्तु भाषा-विशेष की दृष्टि से यह संबंध निश्चित है और इसमें किसी अव्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रसङ्गानुकूल अनेक बातें हो सकती हैं परन्तु उनमें भी व्यवस्था होती है। इसीलिए कुछ लोग इस सम्बन्ध को 'दृढ़ संबंध' कहते हैं भाषा का यही व्यापार (निश्चित व्यवस्था) जीवन के विविध क्षेत्रों में निश्चित तत्वों की स्थापना हेतु हमारा क्रिया-कलाप निर्दिष्ट करता है। भाषा को अनेक स्तरों पर देखा जाता है और जब संकेताभिव्यक्ति और संकेताभिप्रेत का निश्चित सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है, अथवा मान लिया जाता है, तभी हम भाषा-विज्ञान के विभिन्न स्तरों पर विषय का अध्ययन कर सकते हैं। संकेताभि-व्यक्ति के रूप इतने ही विविध होते हैं जितने विविध संकताभिप्रेत होते हैं। अर्थात् अभिप्रेत के संकेतों की विविधता के साथ-साथ अभिव्यक्ति के संकेत की अनेकता दृष्टिगोचर होती है। यदि हम "कुत्ता" अभिव्यक्ति के स्थान पर 'बिल्ली' अभिव्यक्ति रखें तो अभिप्रेत अर्थात् अर्थ बदल जाता है—यह इसलिए हुआ कि संकेताभिव्यक्ति में अंतर पड़ गया

संकेताभिव्यक्ति < कुत्ता → अभिप्रेत = कुत्ता
बिल्ली → अभिप्रेत ≠ कुत्ता = बिल्ली

इसी प्रकार यदि अभिप्रेत 'कुत्ता' के स्थान पर दूसरा अभिप्रेत रखें तो परिणाम अन्य अभिव्यक्ति होता है। इस क्रिया को 'विनिमय' कहा जा सकता है। "संकेत" वे लघुतम इकाइयाँ हैं जिनमें अभिव्यक्ति और अभिप्रेत दोनों ही सन्निहित है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इन्हें 'भाषा' की लघुतम इकाइयाँ नहीं कहा जा सकता। यदि कोई चाहे तो अभिव्यक्ति संकेतों को ध्वनिग्रामों के समुदाय में परिवर्तित कर सकता है। यदि इन ध्वनिग्रामों को बदल दिया जाए तो संकेतों में अन्तर हो जाएगा और अलग-अलग अर्थ निकलेंगे। कल्पना कीजिए एक शब्द है—कमल

इसके / क / को / ज / , / र / , / वि /
/ म / को / व / , / त / , / ठ /
तथा / ल / को / र / , / ठ / , / थ / में

परिवर्तित किए जाने पर

[अमल], [रमल], [विमल]
[कवल], [कतल], [कठल]
[कमर], [कमठ], [कमथ]

नये अभिप्रेत निकले। अतः हम कह सकते हैं कि ये विभिन्न इकाइयाँ विनिमयशील तो हैं परन्तु 'अभिप्रेत' की ओर से सजग रहना चाहिए। इन इकाइयों के बीच एक व्यावहारिकता है जो अभिव्यक्ति और अभिप्रेत को प्रभावित करती है। इसे सब जानते हैं और प्रत्येक ध्वनिग्रामी भी इससे परिचित होता है। किन्तु येम्स्लेव का कथन है कि यह क्रिया अभिव्यक्ति में ही नहीं अभिप्रेत में भी समाहित होती है। व्याकरणिक रूपों में तो यह प्रत्यक्ष है ही। हम कोई शब्द ले लें जैसे 'कुत्ता'—इसका अभिप्रेत कई तत्वों में वितरित किया जा सकता है जैसे कर्ता, कर्म; एकवचन, बहुवचन; स्त्रीलिंग, पुल्लिंग।

कुत्ता (क०) कुत्ता → कुत्ते को (कर्म)
कुत्ता (ए० व०) कुत्तों → कुत्ते (ब० व०)
कुत्ता (पु०) कुतिया (स्त्री०)

साथ ही कर्ता के एक वचन, पुल्लिंग भी अलग होते हैं।

कुत्ता	क०	ए० व०	पुल्लिंग
कुत्तों	,,	ब० व०	,,
कुतिया	,,	ए० व०	स्त्रीलिंग
कुतियाओं	,,	ब० व०	,,

और इसी प्रकार कर्म के लिए भी। जैसे ध्वनियों का विनिमय होता है उसी प्रकार व्याकरणिक रूपों का भी होता है जिसका परिणाम सम्बन्धित अर्थ के परिवर्तन में देखा जाता है। यह परिवर्तन-विनिमय भाषा में अलग-अलग होते है। एक प्रकार से यह शतरंज का खेल है जिसका प्रत्येक मोहरा एक विशिष्ट अभिप्रेत होता है और अन्य मोहरों में बदल नहीं सकता—'प्यादा से फर्जी' की बात अलग है।

इस प्रकार अभिव्यक्ति और अभिप्रेत के क्षेत्रों में 'पद' अपना महत्त्व रखते हैं और एक ही क्षेत्र में सारतत्त्व तथा आकृति के अन्तर्गत भी उनका व्यापार देखा जा सकता है। व्यापारमूलक यह क्रिया-कलाप

पैरेडिगमैटिक प्रक्रिया कहा जाता है, और इसके द्वारा विभिन्न विनिमय संपादित होते हैं। किन्तु परेडिगमैटिक के अतिरिक्त इन दोनों क्षेत्रों में अन्य प्रकार के व्यापार भी होते हैं जिनमें सिंटैग्मैटिक प्रक्रिया भी अपना महत्त्व रखती है।

पदस्तरीय भाषा-विज्ञान तथा दि सौसू के सिद्धान्तों में मुख्य अन्तर यह है कि दि सौसू ने दो प्रकार के स्थानों में केवल एक ही प्रकार को बताया है और इसी के अन्तर्गत उसने अभिव्यक्ति और अभिप्रेत को एकत्र कर सीमित कर दिया है। पदस्तरीय भाषा-विज्ञानी इन दोनों प्रकारों—अभिव्यक्ति और अभिप्रेत—में अन्तर की स्थापना करते हैं और दोनों के व्यापारों में उनकी आकृति के आधार पर अन्तर की मान्यता प्रतिपादित करते हैं। एक अन्य प्रकार से भी दोनों का यह अन्तर देखा जा सकता है। यद्यपि दि सौसू ने S. F. को [छोड़ा नहीं था, उसने अभिव्यक्ति और अभिप्रेत के पारस्परिक व्यापार पर भी बल दिया था और इनसे सम्बन्धित P. F. को] भी बताया था पर जिस प्रकार उसने अपने सिद्धान्तों की स्थापना की थी उसमें केवल एक प्रकार से ही काम चलाया जा सकता है। पर अभीष्ट की सिद्धि तभी होगी जब P और S दोनों को माना जाए। यह आवश्यक है कि दोनों प्रकारों को समानता का स्थान प्रदान किया जाए और साथ ही इनके सम्बन्धित रूपों को भी। प्राह सम्प्रदाय ने P व्यापार को प्रमुखता प्रदान की जो दि सौसू की मान्यता से भी कहीं अधिक थी और ब्लूमफील्ड ने, उनसे भी अधिक उनके अनुयायियों ने, S (वितरण) व्यापार को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया। येमस्लेव ने इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वित रूप लिया और P तथा S दोनों को ही महत्त्वपूर्णमाना। (P पैरेडिग्मैटिक; S सिंटैग्मैटिक)।

जब हम गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं तो दि सौसू की अपेक्षा पदस्तरीय वैज्ञानिकों और ब्लूमफीलड में कहीं अधिक अन्तर मिलता है, और यह उचित मालुम होता है कि दोनों की विशिष्ट शब्दावली को अलग-अलग रखा जाए।

ब्लूमफील्ड द्वारा प्रयुक्त शब्द 'आकृति' येमस्लेव की 'अभिव्यक्ति' का समानार्थी है क्योंकि—

येमस्लेव का कथन है—"आकृति एक संकेताभिव्यक्ति है"
उनका 'अर्थ' अभिप्रेत से सम्बन्धित है। फिर भी इनको इस प्रकार व्यक्त

करना पूरी तरह ठीक नहीं क्योंकि ब्लूमफील्ड ने अभिप्राय के अन्तर्गत आकृति और सारतत्व में अन्तर नहीं माना। ब्लूमफील्ड के अनुसार—

अर्थ = अभिप्रेत के सारतत्व (पदस्तरीय शब्दावली के अनुसार) उन्होंने 'अर्थ' को भाषा के अन्तर्गत नहीं माना है और तभी अमेरिकन पद्धति पर किया गया भाषा विश्लेषण 'अर्थविचार' को अलग रखता है। लगभग कुछ इसी प्रकार का पदस्तरीय भाषा-वैज्ञानिक भी 'अभिप्रेत के सारतत्व' को भाषिकी गवेषणा का प्रमुख उद्देश्य नहीं मानते। ब्लूमफील्ड ने अभिव्यक्ति के सारतत्व (ध्वनि विचार अथवा ध्वनि विज्ञान) को भाषिकी के अन्तर्गत रखने में आनाकानी नहीं की, यद्यपि यह सत्य है कि उसने ध्वानिकी विवरण और विविध आकृतिमूलक ध्वनिग्रामों से सम्बन्धित विवरण में अन्तर माना। यही कारण है कि अमरीकी पद्धति में ध्वनि तथा ध्वनिग्राम सम्बन्धी अध्ययन अलग-अलग चलते हैं। अतः निष्कर्ष निकला कि अभिव्यक्ति के धरातल पर ब्लूमफील्ड आकृति और सारतत्व में अन्तर तो मानते हैं किन्तु पदस्तरीय विद्वान जिसे सारतत्व की आकृति मानते हैं वह अमरीकी भाषा-विज्ञान में नहीं है।

ब्लूमफील्ड की शब्दावली के अनुसार—

"आकृति के सम्बन्धों को व्याकरणिक सम्बन्ध" माना गया है। पदस्तरीय शब्दमाला के अनुसार—

"आकृति संकेताभिव्यक्ति अथवा अभिव्यक्ति-संकेत है"

साथ ही ब्लूमफील्ड जिसे आकृतियों का चुनाव कहते हैं वह पदस्तरीय पद्धति पर 'अभिप्रेत' का व्यापार है। अतः ब्लूमफील्ड की 'आकृति' पदस्तरीय वैज्ञानिकों की अभिव्यक्ति ही नहीं है वरन् बहुत कुछ सीमा तक अभिप्रेताकृति भी है।

आकृति = अभिव्यक्ति + अभिप्रेताकृति

अब येम्स्लेव द्वारा प्रस्तावित भाषा-विवरण पद्धति पर भी कुछ विचार करना उपयुक्त होगा। उसका कहना है कि भाषा-विज्ञान एक "अन्तरस्थ अनुशासन" है 'सर्वातिशायन्' अनुशासन नहीं। अर्थात् भाषा को यह नहीं समझना चाहिए कि वह "अभाषिकी गोचर वस्तु का एक पिण्ड" है जिसमें भौतिक, आवयवी, सामाजिक आदि सभी बातें समाहित हैं—वह तो अपने में सीमित एक आकृति विशेष है जो अपना स्वतन्त्र अनुशासन रखती है। अतः भाषा-विश्लेषण की सामान्य अवस्था में उनका कहना है

कि यह 'आनुमानिक और प्रायोगिक' होना चाहिए। येम्स्लेव ने प्रायोगिक को समझाते हुए लिखा था कि वह वस्तुविशेष से सम्बन्धित हो और जब यह वस्तुविशेष भाषा होती है तब प्रायोगिक का अभिप्राय 'भाषा-विशेष' हो जाता है। उसने यह भी बताया कि प्रायोगिक सिद्धान्त पर आधारित विवरण

१ अविरोधी
२ विस्तृत—पूर्णता की कोटि तक, तथा
३ सरल

होना चाहिए। ये तीनों बातें एक क्रम से ली गई हैं। पहले विरोधी तत्वों का निष्कासन हो, फिर पूर्णता की प्राप्ति हो और यह सब कुछ सरल हो।

आनुमानिक शब्द का प्रयोग भी कई प्रकार से होता है—कभी सामान्य रूप में और कभी विशेष रूप में। उदाहरण के लिए गणित एक आनुमानिक पद्धति है। इसका प्रयोग अनेक प्रकार की परिस्थितियों में किया जा सकता है। किन्हीं स्थानों पर तो येम्स्लेव ने भी कहा है कि वह एक "भाषिकी बीजगणित" की स्थापना करना चाहता था। वैसे तो भाषा-विज्ञान के अनेक सिद्धान्त बीजगणित के जैसे गुरु द्वारा बताए जाते हैं, और अनेक प्रकार के समीकरण भी दिखाई दे जाते हैं। आज के युग में भाषा-विज्ञान की यह प्रवृत्ति अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। येम्स्लेव चाहता था कि भाषा-सिद्धान्तों के ऐसे गुरु या फॉरम्यूला बनाए जाँए जिन्हें सभी भाषाओं पर समान रूप से लागू किया जा सके—ये सम्बन्ध सामान्य गणक के रूप में होने चाहिए। इस प्रकार की अवतारणा तभी संभव हो सकेगी (सामान्य गुरु तभी बनाए जा सकेंगे) जब हमें इस बात का पूरा ज्ञान और अनुभव हो कि भाषिकी निर्माण-कार्य किस प्रकार सम्पन्न होता है। जब एक बार इसकी स्थापना एक पद्धति के रूप में हो जाएगी तब किसी प्रकार के अन्य अनुभव की आवश्यकता नहीं रहेगी और यह विषय गणित जैसा स्वतंत्र और सुव्यवस्थित हो सकेगा। भाषा के इस प्रकार के सुनिश्चित और दृढ़ नियम बनाना या कम से कम इस प्रकार की पद्धति को लागू करना बहुत ही कष्टसाध्य है और अनेक भाषाओं तथा उसके विविध स्तरों के विस्तृत अनुभव की अपेक्षा करता है। यह सम्बन्ध भी व्यवस्थित और सुसंबद्ध होना चाहिए।

आनुमानिक शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों में भी किया जाता है। कभी-कभी इसका प्रयोग केवल 'विश्लेषण' से सम्बन्धित होता है। इस हिसाब से डिडक्शन और इनडक्शन को क्रमशः विश्लेषण और संश्लेषण के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। येम्स्लेव का कहना है कि पाठों का विश्लेषण भाषिकी अधिकरणों की संश्लिष्ट परिभाषाओं से पहले आना चाहिए। परम्परागत भाषा-विज्ञान में विश्लेषण की क्रिया सुस्पष्ट रूप में न होकर बहुत ही अस्पष्ट और अव्यवस्थित रूप में हुई है—जिन सिद्धान्तों का आरोपण किया गया है वे भी बहुधा संदिग्ध हैं। जब तक सिद्धान्तों को निश्चित और स्पष्ट रूप में प्रतिपादित नहीं किया जाता तब तक कोई भी विश्लेषण स्पष्ट और व्यवस्थित नहीं हो सकता। अतः यह आवश्यक है कि पूर्ण विश्लेषण के हेतु पहले क्रिया-कलाप का रूप दृढ़ता के साथ स्थिर कर लिया जाए कि हम किन आधारों पर किस पद्धति के द्वारा विश्लेषण कार्य सम्पादन करना चाहते हैं। साथ ही प्रयुक्त सभी सम्बन्धों का पूर्ण विवरण उपस्थित कर उन्हें सुगठित बनाया जाए। ये विवरण भी इस प्रवीणता के साथ उपस्थित किए जाँए कि विविध भाषाओं का तुलनात्मक ज्ञान स्वतः संभव हो सके। इस प्रकार भाषाविशेष और सम्बन्धित भाषाओं का स्वरूप समझने में आसानी होगी और हमारा कार्य भी उचित निष्कर्ष उपस्थित कर सकेगा। इसका यह अभिप्राय कभी नहीं कि सभी भाषाओं में पाए जाने वाले उपकरण और अधिकरण समान हैं। इनमें अन्तर होना तो स्वाभाविक ही है। आशय केवल इतना ही है कि जो कसौटी हम निर्धारित करते हैं उसी के आधार पर अन्य भाषाओं का भी परीक्षण किया जाए; और यह इसलिए कि कसौटी के एक रखने पर तुलनात्मक कार्य में सुविधा रहेगी और हमारा अध्ययन एक निश्चित गति से निश्चित दिशा में चल सकेगा। अधिकरणों को प्राप्त करने की कसौटी में एकता होनी चाहिए—प्राप्य सामग्री में अन्तर हो सकते हैं।

इस स्तर पर पदस्तरीय भाषावैज्ञानिकों तथा अनेक अमरीकी भाषाशास्त्रियों, जैसे पाइक और हैरिस की धारणाओं में समानता दृष्टिगोचर होती है। इन विद्वानों ने अपने ढँग से सुनियमित पद्धति पर भाषा-विश्लेषण की चेष्टा की है–पद्धतियों में कुछ अन्तर भी दिखाई देता है।

अमरीकी (विशेषतः पाइक की) पद्धति—

इस पद्धति में ऐसी भाषा का विश्लेषण शामिल है जिस भाषा से

विश्लेषणकर्ता परिचित नहीं है। वे उस भाषा का विश्लेषण करना चाहते हैं जिसे वे नहीं जानते। स्वयं पाइक ने इस प्रकार के कई प्रयास किए हैं। उनके अनुसार विश्लेषण में पूर्वधारणाएँ नहीं होनी चाहिए—यह तभी संभव होगा जब हम उस भाषा से अपरिचित हैं।

पदस्तरीय भाषाविदों की पद्धति अलग है।

वे यह मानकर चलते हैं कि विवरणकर्ता को वह भाषा ज्ञात है और विश्लेषण के द्वारा वह उस पर अन्तिम नियंत्रण लगाना चाहता है। इस नियंत्रण की प्राप्ति पहले की अनेक भूलों और सतत प्रयत्न के द्वारा होती है। यह एक ऐसा नियंत्रण है जिससे इस बात की गारंटी हो जाती है कि किसी अङ्ग को छोड़ा नहीं गया है। अतः पहली पद्धति में

१. अज्ञात,
२. अनुमान, और
३. अपूर्णता

की ओर झुकाव मालुम होता है—कम से कम विश्लेषक पूर्णता अथवा निश्चितता का दावा नहीं करता। दूसरी पद्धति में

१. ज्ञात
२. निश्चितता, तथा
३. पूर्णता

की चेष्टा की जाती है और अनेक 'भूल संशोधनों' के उपरान्त निकाले गए परिणाम इस ओर उन्मुख प्रतीत होते हैं। इस दृष्टिकोण से येम्स्लेव की धारणा स्पष्ट हो जाती है कि उसके अनुसार—

(i) विश्लेषण भाषा की आकृति का विश्लेषण है और इसमें यह आवश्यक नहीं कि सारतत्व की ओर ध्यान दिया जाए।

(ii) सबसे पहले औपचारिक विश्लेषण सम्पन्न होना चाहिए।

(iii) तदनन्तर आकृतिमूलक इकाइयों के आधार पर सारतत्व की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है।

इस प्रकार भाषा की आकृति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और यह जानना तभी संभव हो सकता है जब भाषा विशेष का पूर्व ज्ञान हो, अर्थात् विश्लेषक ने पहले ही सामान्य किन्तु निश्चित रूप से भाषा के विविध विनिमयों में दक्षता प्राप्त कर ली हो। अभिव्यक्ति और अभिप्रेत के पारस्परिक

सम्बन्ध-ज्ञान पर ही इसकी स्थापना की जा सकती है। जब तक सारतत्व का ध्यान नहीं दिया जाता तब तक यह मालुम करना संभव ही नहीं होता कि विविध विनिमयों में किए गए परिवर्तनों के आधार में, अनेक स्तरों पर, क्या-क्या अन्तर हो जाते हैं और स्थानों के फेर-बदल से भी एक ही तथ्य क्या अन्तर उपस्थित कर सकता है।

भाषा में ध्वनितत्व और सारतत्व दोनों ही काम करते हैं। [पिन] के / प / और [टिन] के / ट / में ध्वन्यात्मक अन्तर है साथ ही अर्थ का भी अन्तर है। यदि इनके स्थानों में परिवर्तन कर दिया जाय तब भी ध्वनि और सार दोनों तत्व काम करेंगे।

अथवा [पिन] [निप] [टिन] [निट]
[पिट] [टिप]

पदस्तरीय पद्धति वालों का कहना है कि जब तक केवल ध्वन्यात्मक अन्तर ही देखा जाएगा और सारतत्त्व को भुला दिया जाएगा तब तक ध्वन्यात्मक स्वयं भी कुछ महत्त्व नहीं रखेगा उसका महत्त्व सारतत्व के साथ ही है। अतः आगे बढ़ने के लिए दोनों की सहायता वांछनीय है। येम्स्लेव ने भी पहले तो अपने लेखों में इस बात का प्रतिवाद किया किन्तु बाद में इस बात को स्वीकार कर लिया कि आकृति और सारतत्त्व के पारस्परिक सम्बन्ध से ही तत्त्वों की स्थापना होती है। किन्तु जब ये तत्त्व जैसे ध्वनिग्राम जिन्हें पदस्तरीय भाषा विज्ञान में 'टैजीम्स' कहा जाता है, निर्णीत हो जाते हैं तो आकृतिमूलक सम्बन्ध के आधार पर ही उनको विभिन्न समुदायों में वर्गीकृत किया जा सकता है और इसी आधार पर इनकी परिभाषाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। अब यदि प्रत्येक तत्त्व अपना निजी सम्बन्ध रखता है तो इसका एक वर्गविशेष बन· गया और शुद्ध औपचारिक रूप में इसकी परिभाषा लिखी जा सकती है। उदाहरण के लिए स्वीड भाषा का / r / एक सीमांत टैक्सीम (व्यंजन) कहकर बताया जा सकता है, जो आदि अन्त दोनों स्थानों में प्रयुक्त होने की क्षमता रखता है। गुच्छों में प्रयुक्त होने पर लगभग स्वर के ही समान होता है। नागरी वर्ण भाषा में भी / ऋ / स्वर-ध्वनि ही है—आज इसका उच्चारण हम ठीक तरह नहीं कर पाते और इसे / रि /, / रु / आदि बोलते है अर्थात् हमने / ऋ / का स्वरत्व समाप्त कर दिया है। इसी प्रकार / ऌ / स्वर की तो अब कल्पना भी नहीं कर पाते। इस ध्वनिग्राम का उच्चारण—दंत्य,

लुण्ठित अथवा वर्त्स्य कुछ भी क्यों न हो किन्तु परिभाषा यही होगी कि यह एक सीमान्त टैक्सीम है जो गुच्छों में स्वर सदृश है। लिखने में /r/ के लिए भी यही बात ठीक है।

आकृति भी केवल सारतत्त्व पर आधारित नहीं होती, आकृति से तुलना करने पर सारतत्व भी परिवर्तनीय होता है। जब दोनों की परिवर्तन-शीलता अपने-अपने ढँग की अलग है तो दोनों में पारस्परिक आधार की स्थिति किस प्रकार उत्पन्न होगी। एक से ध्वनिग्रामों को ध्वनियों अथवा वर्णों से अभिव्यक्त किया जा सकता है और इन ध्वनियों को भौतिकी अथवा आवयवी शब्दावलि में वर्णित भी किया जा सकता है। इसी प्रकार सारतत्व से सम्बन्धित आकृति को भी नहीं बदला जा सकता, यदि ऐसी चेष्टा की भी जाएगी तो भाषा को ही बदलना होगा। भाषा की प्रतिष्ठा आकृति से होती है—आकृति के द्वारा ही भाषा की रूपरेखा स्पष्ट होती है, उसका रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ तक सारतत्त्व का प्रश्न है प्रायः सभी भाषाओं में इसकी समानता होती है। हमारे विचार, भावनाएँ, विनिमय के पदार्थ प्रायः एक से ही होते हैं इनका अन्तर तभी स्पष्ट होता है जब इन्हें विभिन्न भाषाओं के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। अतः यह अन्तर आकृति का अन्तर है, सारतत्त्व का अन्तर नहीं। इस सारतत्व को किस प्रकार का जामा पहनाया जाता है इसी से भाषा का अन्तर स्पष्ट होता है—सीमाओं तथा सम्बन्धों का आकृतिमूलक अन्तर भी भाषाओं की विविधता प्रतिपादित करता है—यदि अन्तर्गत सार की दृष्टि से विचार करें तो भाषाओं का अन्तर नहीं साम्य ही दिखाई पड़ेगा। यही कारण है कि भाषा की परिभाषा आकृति के आधार पर की जाती है, मूलार्थ के आधार पर नहीं। आकृति के द्वारा ही भाषाओं की तुलनात्मक स्थिति संभव है। आकृति का विश्लेषण करने में भी किसी विशेष सारतत्त्व की आवश्यकता नहीं होती। भाषिकी, अर्थ पर ध्यान दिए बिना भी, भाषा के रूप-विश्लेषण की सामग्री बन सकता है।

पदस्तरीय भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत भाषा की सभी समस्याओं को लिया जा सकता है—भाषा में जो भी सम्भावनाएँ हो सकती हैं उन सभी को इसके अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है। इस पद्धति में विश्लेषण-क्रिया की एक निश्चित प्रणाली होती है और उसी के अनुसार आगे बढ़ना उपयोगी होता है। येम्स्लेव इस बात को बहुत पसंद करते हैं कि

'अभिव्यक्ति' और 'अभिप्रेत' दोनों का विश्लेषण समान रूप से किया जाए। केवल इतना ही नहीं कि दोनों में एक से सामान सम्बन्ध पाए जायेंगे परन्तु इतना भी कि दोनों धरातलों पर एक ही प्रकार के वर्गविशेष उपलब्ध होंगे। पर यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि दोनों से सम्बन्धित संकेतों की एक-सी परिभाषा होगी—उनमें अन्तर अवश्य होगा। यह पहले बताया जा चुका है कि 'संकेत-अभिव्यक्ति' और 'संकेत-अभिप्रेत' के विश्लेषण में कोई विशेष समन्वय नहीं होता, उनमें तो अन्तर ही दिखाई देता है। तथापि भाषिकी विश्लेषण संकेतों का ही विश्लेषण नहीं होना चाहिए। अभिव्यक्ति और अभिप्रेत दोनों का अलग-अलग विश्लेषण हो तो इनका अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

इस लघु निबन्ध में यह तो संभव नहीं कि पदस्तरीय भाषा-विज्ञान की पूर्ण कार्य-पद्धति का विवरण उपस्थित कर दिया जाए। इसके लिए तो स्वयं येम्स्लेव तथा फिशर के ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन करना होगा। यहाँ तो, अति संक्षेप में, कुछ प्रारम्भिक सामग्री देने का प्रयास मात्र किया गया है। इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इस सिद्धान्त के निर्माता, विविध भाषाओं के माध्यम से कुछ विशिष्ट सामग्री भी दे चुके हैं।

अपने प्रस्तुत रूप में यह सिद्धान्त तीन प्रकार के सामान्य आधारों का अन्तर स्पष्ट करता है—

(१) पारस्परिक आधारिता—जहाँ एक पद दूसरे पद की परिकल्पना करता है वहाँ दूसरा पहले की भी। उदाहरण के लिए लैटिन में वचन का पदग्राम कारक के पदग्राम की पूर्ण अपेक्षा करता है और इसी प्रकार कारक का पदग्राम वचन की पदग्राम की अपेक्षा करता है। हिन्दी में भी यह देखा जा सकता है—

	संज्ञा		कारक
लड़के / का / घोड़ा	एक व०	⟶	एक व०
लड़कों / के / घोड़े	ब० व०	⟶	ब० व०

इन दोनों पदों का पारस्परिक सम्बन्ध है। हिन्दी में कहीं-कहीं यह नहीं भी दिखाई देता—

लड़के / ने / रोटी खाई एक व० ⁀ एक व०

लड़कों / ने / रोटी खाई ब० व० ⁀ एक व० (रूप)

नें ⁀ ने = अंतर नहीं दिखाई देता, यद्यपि व्यावहारिक अन्तर अवश्य है।

(२) एकपक्षी आधारिता—जहाँ एक पद दूसरे पद की पूर्व सम्भावना करता है किन्तु जहाँ इसका विपरीत सत्य नहीं होता। उदाहरण के लिए लैटिन भाषा में Sine अपादान की पूर्व सम्भावना तो करता है परन्तु अपादान Sine की नहीं। इसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

(३) आधारिता की स्वतंत्रता—इनमें दो तत्त्वों का एक दूसरे पर आधारित होना अनिवार्य नहीं। एक दूसरे की पूर्व कल्पना भी आवश्यक नहीं।

सुन्दर लड़का / सुन्दर लड़के / सुन्दर लड़की / सुन्दर लड़कियाँ / यहाँ आधारिता की स्वतन्त्रता है। / लड़का / पद के लिङ्ग वचन बदलते हैं परन्तु / सुन्दर / जेसा का तैसा रहता है।

यह तीन प्रकार की आधारिता तीन अलग स्थितियों में देखी जा सकती है और प्रत्येक का अलग विन्यास है—

(१) सामान्य आश्रयता—आधारिता

(२) व्याकरणिक सम्बन्ध—विभिन्न तत्त्वों की पारस्परिक आधारिता

(३) विन्यास के तत्वों की अन्योन्याश्रित आधारिता।

पदस्तरीय भाषा-विज्ञान में शब्दावली की बहुलता के कारण समझने में काफी कठिनाई होती है। यहाँ जो कुछ जानकारी दी गई है उसमें विशिष्ट शब्दावली का कम से कम प्रयोग किया गया है।

अभिव्यक्ति और अभिप्रेत का विशेष वर्गीकरण—

(१) अभिव्यक्ति	i अंग (सिनीम्स)	a—केन्द्रीय (स्वर)
		b—सीमांत (व्यंजन)
	ii द्योतक प्राजोडीम्स	a—गाढ़ (बलाघात)
		b—विस्तृत (आरोहावरोह)
(२) अभिप्रेत	i अंग (प्लैरीम्स)	a—केन्द्रीय (मूल)
		b—सीमांत (प्राप्त)
	ii द्योतक (मोरफीम्स)	a—गाढ़ (संज्ञा पदग्राम)
		b—विस्तृत (क्रिया पदग्राम)

इस प्रकार औपचारिक वर्ग स्थापित करने में पदस्तरीय भाषा-विज्ञान दोनों धारातलों पर भेद करता है—अर्थात् उसके विभिन्न अङ्गों में तथा द्योतित करनेवाले द्योतक प्रसंगों में। अभिव्यक्ति के धरातल पर अङ्गों के अन्तर्गत सिमीम्स आते हैं जिनमें स्वर और व्यंजन दोनों आ जाते हैं। इसी धरातल पर जो द्योतक बिन्दु हैं वे प्रोसीडीम्स हैं जिनमें बलाघात तथा अवरोह-आरोह आते हैं। अभिप्रेत के स्तर पर उसके अंग प्लोरीम्स कहलाते हैं जिनमें वे सभी शब्द आ जाते हैं जो मूल शब्द हैं अथवा जो इन शब्दों से बने हुए प्राप्त शब्द हैं। इसके द्योतक भाग में पदग्राम आते हैं जो व्याकरणिक समुदाय के अन्तर्गत हैं जिनमें संज्ञा, क्रिया आदि आ जाते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि पदस्तर की शब्दावली में पदग्राम अमेरिकन अर्थ से नितान्त भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका सम्बन्ध रूप-विज्ञान से अवश्य है, परन्तु दोनों में अलग-अलग प्रकार से। इस अन्तर को इस प्रकार देखा जा सकता है—

१. ब्लूमफील्ड के पदग्राम की अपेक्षा पदस्तरीय पदग्राम कहीं अधिक सीमित है।

२. पदस्तरीय भाषा-विज्ञान में शब्दों के मूल स्वरूप 'पदग्राम' के अन्तर्गत नहीं आते—केवल व्याकरणिक तत्त्व ही उसके अन्दर आते हैं जैसे संज्ञा या क्रिया के व्याकरणिक रूप।

३. पदस्तरीय भाषा-वेत्ताओं के अनुसार पदग्राम अभिव्यक्ति की इकाई नहीं है वरन् अभिप्रेत की इकाई है जैसा ऊपर दिए गए चार्ट से भी सिद्ध होता है—उसे अभिप्रेत के अन्तर्गत लिया गया है।

४. पदस्तरीय अर्थ में us, a, o आदि अन्त्य पदों को formant अर्थात् पदभाग कहा जाता है—कर्ता, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग आदि को पदग्राम कहा जाता है।

५. दोनों में ही—अंगी और द्योतकी स्तरों पर—अंतर यह है कि केवल द्योतकी ही अन्य इकाई के तत्वों से सम्बन्धित होते हैं। जैसे चढ़ता हुआ सुर अगले गिरते हुए सुर की कल्पना कर सकता है, शक्तिहीन बलाघात के आगे पीछे शक्तिशाली बलाघात आ सकता है।

इस प्रकार शब्द-सीमा के बाहर भी वाक्यों के पदग्रामों में पारस्परिक

सम्बन्ध हो सकते हैं। द्योतक भी गाढ़ हो सकते हैं अर्थात् किसी पूर्ण उच्चरित अङ्ग की विशेषता बता सकते हैं कि अभिव्यक्ति के धरातल पर उनमें क्या उतार-चढ़ाव है तथा अभिप्रेत के धरातल पर क्रिया-पदग्रामों की क्या स्थिति है।

अंगी और द्योतकी दोनों की सम्मिलित इकाई को ही सिंटैम कहा जाता है। एक सिंटैम जिसकी विशेषता गाढ़ द्योतक की लघुतम इकाई होती है सिंटैग्मैटीम कहलाती है। अभिव्यक्ति का सिंटैग्मैटीम ही अक्षर या सिलेबिल होता है। अभिप्रेत का सिंटैग्मैटीम संज्ञा होती है। यहाँ जो सामग्री दी गई है वह बहुत कुछ येम्स्लेव के उस वक्तव्य पर आधारित है जो गेंट में होनेवाले तृतीय अखिल विश्व ध्वनि-विज्ञान सम्मेलन के अवसर पर दिया था। द्योतक और सिंटैग्मैटीम की परिभाषाओं में कुछ चक्कर सा मालुम देता है। पर पहले को दूसरे के बाहरी तत्वों से सम्बन्धित माना जाता है और दूसरे में एक गाढ़ द्योतक की कल्पना की जाती है।

सिंटैग्मैटीम के अन्तर्गत अङ्गों को भी विभाजित किया जा सकता है—वे केन्द्रीय भी हो सकते हैं और सीमान्त भी। केन्द्रीय सिनीम स्वर होते हैं और सीमान्त सिनीम व्यंजन। केन्द्रीय प्लेरीम्स मूल होते हैं और सीमान्त प्लेरीम्स प्राप्त (निकाले हुए) शब्द। केन्द्रीय अङ्गों को अङ्ग या अंगी कहा जाता है जिसकी एक लघु इकाई सिंटैग्मैटीम का एक मात्र अङ्ग हो सकती है। स्वर भी अक्षर का एक अङ्ग हो सकता है और 'मूल' स्वयं एक संज्ञा का रूप धारण कर सकता है।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना लाभदायक होगा कि ये परिभाषाएँ सम्बन्धापेक्षित हैं और ऐसा देखा जा सकता है कि इनके अंदर वे सभी इकाइयां नहीं आ सकतीं जिनके साथ इन्हें सम्बन्धित होना पड़ता है। उदाहरणार्थ 'अक्षर' की जो परिभाषा दी गई है उसमें स्वराघात की पूर्व कल्पना है। इस हिसाब से फ्रेंच भाषा में (इस अर्थ के अन्तर्गत) कोई अक्षर अथवा सिलेबिल नहीं है। इन अनुरूप इकाइयां को येम्स्लेव ने छद्माक्षर कहा है। स्वराघात की परिभाषा अन्य अक्षरों के सम्बन्ध में की गई है। इस प्रकार स्ट्रैस तथा टोन जिनमें ऐसा सम्बन्ध नहीं है स्वराघात नहीं कहे जा सकते उनको अङ्गी मात्र कहा जा सकता है। पाइक की शब्दावली के अनुसार vocoids जो अन्य अक्षरों में vocoids से सम्बन्धित होते हैं स्वराघात हैं। इस परिभाषा के अनुसार फिन भाषा के vocoids

स्वराघात हैं क्योंकि उनमें स्वर साम्य पाया जाता है और इसी परिभाषा तथा धारणा के अनुसार Contoids को व्यंजन नहीं कहा जा सकता बल्कि उन्हें अनिर्दिष्ट अङ्गी कहा जा सकता है। व्यंजनों को पूर्व कल्पना करने वाले तथा पूर्व कल्पित दो भागों में बाँटा जा सकता है और यदि ये अक्षर CV, CVC प्रकार के हैं किन्तु VC प्रकार के नहीं, तो प्रारम्भिक स्थान पूर्व कल्पित होता है और इस स्थिति में आने वाले व्यंजन की ही परिभाषा दी जा सकती है। आकृति और सारतत्त्व का विरोध कोई खराबी नहीं मानी जाती उसे तो भाषा-विशेष की प्रकृति कहा जा सकता है।

इस प्रकार पदस्तरीय भाषाविज्ञान में 'पद' का महत्व है। इसके अभिव्यक्त और अभिप्रेत दोनों रूपों को अध्ययन का विषय बनाया जाता है। स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त ध्वनिग्रामिक अथवा ध्वनिविज्ञानिक दोनों पद्धतियां से अन्तर रखता है। इसका अध्ययन 'पद' के आधार पर ही आगे बढ़ता है। इस मूल इकाई के अङ्गों द्वारा ही स्वर-व्यंजन, स्वरावरोह-आरोह मूल-प्राप्त रूप आदि सिद्ध होते हैं। अध्ययन का मूलाधार 'पद' ही माना जाता है।

कतिपय साहित्य-परीक्षोपयोगी प्रकाशन

कादम्बरी । 'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्या । आचार्य शेषराज शर्मा 'रेग्मी' । कथामुखपर्यन्त २०–००, आदितः शुकनासोपदेशान्त भागः ४०–००

रघुवंशमहाकाव्यम् । मल्लिनाथ कृत 'संजीविनी' व्याख्यासमलङ्कृत । श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी व्याख्या युक्त । सम्पूर्ण ३५–००

व्याकरणशास्त्रस्येतिहासः । लेखकः—डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी १२–५०

अभिज्ञानशाकुन्तलम् । 'विमला'-'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्या युक्त । डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी ४५–००

रसगङ्गाधरः । आचार्य बदरीनाथ कृत 'चन्द्रिका' संस्कृत टीका एवं आचार्य मदनमोहन झा कृत हिन्दी टीका सहित । १-३ भाग सम्पूर्ण २५०–००

प्रथमाननपर्यन्त : प्रथम भाग ५०–००

द्वितीयानन का उत्प्रेक्षानिरूपणान्त : द्वितीयभाग १००–००

अतिशयोक्त्यलङ्कारादिसमाप्तिपर्यन्त : तृतीय भाग १००–००

दशरूपकम् । धनिककृत 'अवलोक' संस्कृत टीका एवं डॉ० भोलाशंकर व्यास कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका सहित २५–००

कालिदास ग्रन्थावली । आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ६०–००

नलचम्पूः । 'सुधा' संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहित । श्रीपरमेश्वरीदीन पांडेय ५०–००

कौटिलीय-अर्थशास्त्रम् । हिन्दीव्याख्यासहित । वाचस्पति गैरोला १२५–००

काव्यमीमांसा । परीक्षोपयोगि संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार:—डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी । १–५ अध्याय ७–००

नैषधीयचरितम् । 'चन्द्रकला' सं० हि० व्याख्या । शेषराजशर्मा । १-९ सर्ग ७०–००

स्वप्नवासवदत्तम् । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या । शेषराजशर्मा रेग्मी: १६–००

भट्टिमहाकाव्यम् । 'काव्यमर्मविमर्शिकाख्य'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम् । नवीन परिवर्द्धित संस्करण । म० म० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' १–४ सर्ग १५–००, ५–८ सर्ग २०–००, १४–२२ सर्ग २०–००

निरुक्तम् । १–७ अध्याय । विवेचनात्मक विस्तृत हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि सहित । व्याख्याकार—डॉ० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' ४०–००

पुराणपर्यालोचनम् । डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी । प्रथम : गवेषणात्मक भाग ७५–०० (उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत) । द्वितीय : समीक्षात्मक भाग ७५–००

भक्तिरत्नावली । डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी (उ०प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत) ५०–००

काव्यप्रकाशः । 'शशिकला' हिन्दीव्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह ६०–००

कुवलयानन्दः । 'अलङ्कारसुरभि' हिन्दीव्याख्या । डॉ० भोलाशंकरव्यास ६०–००

साहित्यदर्पणम् । 'शशिकला' हिन्दीव्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह १–६ परिच्छेद ५५–०० सम्पूर्ण ८०–००

ध्वन्यालोकः । अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' संस्कृत टीका एवं आचार्य जगन्नाथ पाठक कृत 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या । सम्पूर्ण ७०–००

सर्वविध पुस्तक प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन, चौक, पो० बा० नं० ६९, वाराणसी २२१००१